मोक्षमहल की नींव का दिग्दर्शक सशक्त, किन्तु
सरल एवं सुबोध कथानक

नींव का पत्थर

(उपन्यास)

लेखक :
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.
प्राचार्य – श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

प्रकाशक–
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-4, बापूनगर, जयपुर – 302015
फोन : (0141) 2705581, 2707458

प्रथम संस्करण 5 हजार
(अष्टान्हिका 21 जुलाई, 2005)

मूल्य :
आठ रुपये

क्या/कहाँ ?

मुद्रक :
प्रिन्टो 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

जैनदर्शन के ख्यातिप्राप्त विद्वान, लोकप्रिय लेखक अध्यात्म-रत्नाकर पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति 'नींव का पत्थर' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यद्यपि पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का १८ मार्च, २००३ को हृदय का वाल्ब परिवर्तन जैसा बड़ा ऑपरेशन हुआ था और विशेषज्ञ चिकित्सकों द्वारा उन्हें पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया गया था; तथापि पण्डितजी ने ऑपरेशन के पश्चात् दो वर्ष की लघु अवधि में ही 'हरिवंशपुराण' तथा 'महापुराण' जैसे ग्रन्थों का गहन अध्ययन कर उनके आधार पर 'हरिवंशकथा' तथा 'शलाका पुरुष' भाग एक व दो लिखे हैं। इस प्रकार ९५७ पृष्ठों में समाहित तीन मौलिक ग्रंथों की रचना की जो उनकी सृजनशीलता के प्रति जागरुकता की परिचायक हैं। इसी बीच २३० पृष्ठीय कृति 'ऐसे क्या पाप किए' भी प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँच चुकी है। इन चारों कृतियों के अल्पकाल में ही पाँच-पाँच हजार के संस्करण समाप्त हो चुके हैं। पाँचवीं पुस्तक आपके हाथ में हैं ही। रुग्णावस्था में लिखी गई ये पाँचों कृतियाँ बेमिसाल हैं।

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल उन विरले साहित्य सेवियों में हैं जो शरीर के अस्वस्थ होने पर भी द्रुतगति से लेखन कार्य में व्यस्त रहकर अपने जीवन के अमूल्य क्षणों का सदुपयोग कर रहे हैं। उनकी नवीनतम कृति 'नींव का पत्थर' ऐसे ही क्षणों में लिखी गई कृति है, जिसकी विषय वस्तु लेखक की अन्य प्रकाशित कृतियों से कुछ हटकर अत्यन्त उपयोगी हैं।

यथानाम तथा गुण सम्पन्न प्रस्तुत कृति में मुक्तिमहल के नींव के पत्थरों के रूप में जिन गंभीर और अल्प चर्चित सिद्धान्तों का सरल-सुबोध भाषा शैली में प्रतिपादन हुआ है, उनकी अत्यन्त आवश्यकता थी। यह कार्य करके आदरणीय पण्डितजी ने एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। सचमुच इन सिद्धान्तों के शिलान्यास के बिना मुक्तिमहल का बनना असंभव ही है।

प्रस्तुत कृति में प्रतिपादित विषयों की सच्ची समझ से स्वतः ही मोह-राग-

द्वेष कृश होने लगते हैं जैनदर्शन के इन मूलभूत सिद्धान्तों को जाने बिना कोटि जन्मों तक तप करने पर भी हमारे कर्मों की निर्जरा होना संभव नहीं है।

मेरी तो ऐसी भावना होती है कि – ऐसी कृतियाँ कम से कम मूल्य में न केवल घर-घर में; बल्कि जन-जन के हाथों में होना चाहिए और न केवल एक-दो बार, वरन बारम्बार पठन-पाठन में आना चाहिए। एतदर्थ लेखक का जितना भी आभार माना जाये कम हैं। विशेष हर्ष का विषय यह है कि अब लेखक की पाठकों तक सीधी पहुँच हो गई है। उनका साहित्य इतना लोकप्रिय हो गया है कि उसके प्रचार-प्रसार के लिए हमें कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता। अब तो उनके नाम से ही पाठकों की मांग आने लगी है। पाठक स्वयं पढ़ते हैं और अपने मित्रों, परिजन-पुरजनों एवं साधर्मीजनों को भी पढ़ने के लिए भेंट में देते हैं।

नींव का पत्थर कृति की प्रस्तावना संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी के पूर्व कुलपति पद्मश्री महामहोपाध्याय डॉ. सत्यव्रतजी शास्त्री ने लिखी है। इसके लिए संस्था उनका हृदय से आभार मानती है।

प्रस्तुत कृति को जन-जन तक अल्पमूल्य में पहुँचाने हेतु जिन महानुभावों ने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, ट्रस्ट की ओर से हम उनका हार्दिक आभार मानते हैं। कृति को आकर्षक कलेवर में प्रस्तुत करने का श्रेय प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल को जाता है; इसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद।

लेखक दीर्घायु हों और इसी तरह नये-नये विषय पाठकों को परोसते रहें, यह मंगल कामना है।

– ब्र. यशपाल जैन

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर-१५

प्रस्तावना

पद्मश्री महामहोपाध्याय डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, दिल्ली
पूर्व कुलपति, श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, पुरी (उड़ीसा)

प्रिय पाठकगण, प्रस्तुत कृति में वह सब कुछ है, जिसकी ओर अब तक प्राय. लोगों का ध्यान ही नहीं गया, अन्यथा धर्माचरण करते हुए भी उसके फल में प्राप्त होनेवाला निराकुल सुख हाथ क्यों नहीं लगा? एतदर्थ जैनधर्म के मूल सिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य को समझाने वाली इस कृति को आद्योपांत अवश्य पढ़ें।

यहाँ वस्तु का अर्थ है जीव और पुद्गल आदि छह द्रव्य रूप विश्व। यह विश्व पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी, स्वसंचालित है। इस विश्व की कर्त्ता-धर्ता कोई अन्य अव्यक्त शक्ति तो है ही नहीं, अन्य द्रव्य भी कर्ता, करण आदि षट्कारकरूप से इसके कर्त्ता नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के षट्कारक स्वतंत्र हैं। ऐसी यथार्थ श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान से पर कर्तृत्व के भार से निर्भार होते ही आत्मा स्वतः स्वरूप सन्मुख होकर मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी को प्राप्त कर लेता है।

इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत कृति में एक ऐसे जीव की कहानी है, जिसे जो भी पाठक पढ़ेगा, उसे ऐसा प्रतीत होगा – अरे! यह तो मानो मेरी ही कहानी है।

इस कृति का प्रमुख पात्र (कथानायक) जीवराज है। उसका अनादिकालीन मित्र कर्मकिशोर है। जीवराज की धर्मपत्नी समतारानी है। कर्मकिशोर की पत्नी का नाम वेदनी है। कर्मकिशोर का परिवार बड़ा है, उसकी बहिन मोहनी है। मोहनी का बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक है, पर वह जातीय स्वभाव और संस्कारों के कारण चरित्र से कमजोर है। साता-असाता कर्मकिशोर की पुत्रियाँ हैं, जिनका स्वभाव ही जीवों से अठखेलियाँ करना, उनके सुख-दु ख में निमित्त बनना है। वे मोहनी से विशेष प्रभावित होतीं हैं। काम-क्रोध आदि कर्मकिशोर के पुत्र हैं।

जीवराज राजघराने से सम्बन्धित क्षत्रिय पुत्र है, उसकी धर्मपत्नी समतारानी सर्वगुण सम्पन्न है, विदुषी है, विवेकवती है; फिर भी जीवराज मोहनी पर आकर्षित हो जाता है। पुरुषों का परनारियों पर आकर्षित होना कोई अजूबा नहीं है। अधिकांश पुरुषों में यह कमजोरी होती है, परन्तु लोकापवाद, राजदण्ड, समाजनिन्दा आदि तथा परलोक बिगड़ने के भय से और यश-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से वे जीवराज की भाँति-दु.स्साहस नहीं कर पाते। परन्तु ताक-झाँक से बाज फिर भी नहीं आते। ताक-झाँक करना तो मानो उनका जन्मसिद्ध अधिकार है।

मोहनी चरित्र से कमजोर होते हुए भी स्वाभिमानी है, वायदा खिलाफी नहीं करती। वह जीवराज को स्वयं के प्रति अत्यन्त आकर्षित देखकर नारी-सुलभ कमजोरी के कारण मात्र जीवराज की ही उपपत्नी बनकर रह जाती है।

जीवराज मोहनी के प्रति अति आसक्ति रूप पाप-परिणाम के फलस्वरूप कुछ ही दिनों में दरिद्र तो हो ही जाता है, मूर्छितावस्था और स्वप्न में अपनी प्रथम पत्नी समता रानी को भी याद करने लगता है, इसकारण मोहनी उसकी उपेक्षा करने लगती है।

यह नारी मनोविज्ञान है कि जिसतरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं समातीं, उसीप्रकार जीवराज के हृदय में दो नारियों का रहना संभव नहीं था। इस कारण मोहनी की जीवराज के प्रति उपेक्षा होना स्वाभाविक ही था, मोहनी ने भी अपने हृदय सिंहासन पर कभी एक साथ दो पुरुषों को स्थान नहीं दिया।

जब समतारानी को पता चलता है कि उसके पति जीवराज कहीं के नहीं रहे। जिस मोहनी से जीवराज ने नाता जोड़ा था, अब उस मोहनी ने उनसे मुँह मोड़ लिया है तो समतारानी जीवराज की खोज-खबर लेती है।

इस तरह जीवराज के जीवन में कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव आते हैं, वह अन्तत. किस तरह **मोक्षमहल के नींव के पत्थर का शिलान्यास** करता है, मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी तक वह कैसे पहुँचता है। वह नींव का पत्थर है क्या? वह आधारशिला कैसी है? जिसके आधार पर पूरा मोक्षमहल खडा होता है, मोक्षमहल की शोभा बढ़ाने वाले अहिंसा-अपरिग्रह के कंगूरों का निर्माण कैसे होता है? आदि को विस्तृत जानने के लिए पाठकों को यह पुस्तक आद्योपान्त पठनीय है।

यह 'नींव का पत्थर' किसी राजमन्दिर, लक्ष्मीमन्दिर, मराठा मन्दिर की नींव का पत्थर नहीं, बल्कि उस मोक्षमहल के नींव का पत्थर है, जिसमें वास होने पर अनन्तकाल तक अनन्तसुख प्राप्त होता है।

इस अमूल्य कृति के लेखन हेतु लेखक को कोटिशः बधाई।

इस कृति से आपको ऐसा तत्त्वज्ञान मिलेगा, जिसके रहस्यों से अबतक आप पूरी तरह परिचित नहीं हैं। जो इसे पढ़ना प्रारंभ करेगा, वह इसे पूरा पढ़े बिना नहीं रह सकेगा, क्योंकि कृति का कथा प्रवाह सहज, सरल एवं आकर्षक है।

●

आत्मकथ्य

नींव का पत्थर

जिसका संदेश देते आये हैं तीर्थंकर,
लिखते आये जिसे समयसारादि ग्रन्थों में –
आचार्य कुन्दकुन्द से मुनीश्वर।
कहान गुरु ने फैलाया जिसे देश-देशान्तर,
वह 'वस्तुस्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है –
मुक्तिमहल के नींव का पत्थर॥

× × ×

जो झेलता है पूरा बोझ –
मुक्तिमहल का अपने सर पर।
शरण लेना है उसकी; क्योंकि –
मुक्तिमहल बनता है उसकी दम पर।
इससे बढ़कर नहीं है कोई अन्य जंतर-मंतर।
वस्तुस्वातंत्र्य ही है नींव का पत्थर।

× × ×

वस्तु स्वातंत्र्य के साथी हैं षट्कारक,
जो हैं संसार के दुःख निवारक।
तुम समझो उन्हें हर कीमत पर,
यदि ठोंकरे नहीं खाना है दर-दर पर।
वस्तु स्वातंत्र्य में इनका योगदान है महत्तर,
षट्कारक हैं नींव के पत्थर॥

× × ×

क्रमबद्ध पर्याय करती है वस्तु स्वातंत्र्य का पोषण,
इससे होता है संसार समुद्र का शोषण।

जो करता है कुठाराघात संसार वृक्ष की जड़ पर,
हो जाते हैं नष्ट उससे भव-भवान्तर।
शुद्धता का शुभारंभ होता है सत्वर,
क्रमबद्धपर्याय है नींव का पत्थर।

× × ×

एक ही वस्तु में होता है कर्त्ता-करम,
यही है मुक्ति मार्ग का मरम।
पर-कर्तृत्व है राग-द्वेष की जड़,
इसलिए पर के कर्त्ता बनने के झगड़े में मत पड़ !
न कर मोह संयोगों से तू निरन्तर,
एक ही वस्तु में कर्त्ता-करम हैं नींव के पत्थर

× × ×

वस्तु स्वातंत्र्य है वस्तु का स्वभाव –
इसे सिद्ध करते हैं चार अभाव।
आत्मा पर पड़ता है अनुकूल प्रभाव –
और नष्ट होते हैं आत्मा के विभाव।
ये चारों अभाव हैं मंत्रों के महामंतर!
ये अभाव हैं नींव के पत्थर।

× × ×

एक ही वस्तु में है कारण-कार्य सम्बन्ध,
उसका भी त्रिकाली वस्तु से नहीं कोई अनुबंध।
पूर्व पर्याय का भी होता है अभाव,
मात्र तत्समय की योग्यता दिखाती प्रभाव।
निमित्त कारण है अकिंचित्कर –
अभिन्न कारण-कार्य संबंध है नींव का पत्थर।।

– पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

१

सबै दिन जात न एक समान

जीवराज की कर्मकिशोर से बचपन से ही ऐसी घनिष्ठ मित्रता है, मानो उन दोनों का जनम-जनम का साथ रहा हो। जीवराज चेतन होकर भी अपने कर्तव्य पथ से भटका हुआ है और कर्मकिशोर जड़ होने पर भी अपने कर्तव्यपथ से कभी नहीं भटकता। वह अपने काम के प्रति पूरी तरह ईमानदार है, कर्तव्यनिष्ठ है।

यद्यपि जीवराज कर्मकिशोर का जनम-जनम का साथी है, दोनों में अत्यन्त घनिष्ठता है; परन्तु जीवराज यदि कोई अपराध करता है तो कर्मकिशोर उसे दण्ड देने से भी नहीं चूकता और यदि वह भले काम करता है तो उसे पुरस्कृत भी करता है, उसका सम्मान भी करता है। और उसे लौकिक सुखद सामग्री दिलाने में कभी पीछे नहीं रहता।

कोई कितना भी छुपकर गुप्त पाप करे अथवा भले काम करते हुए उनका बिल्कुल भी प्रदर्शन न करे तो भी कर्मकिशोर को पता चल ही जाता है। कहने को वह जड़ है; पर पता नहीं उसे कैसे पता चल जाता है, उसके पास ऐसी कौनसी सी.आई.डी. की व्यवस्था है, कौनसा गुप्तचर विभाग सक्रिय रहता है, जो उसे जीव के सब अच्छे-बुरे (पुण्य-पाप) कार्यों की जानकारी दे देता है?

एकबार जीवराज ने कर्मकिशोर से पूछ ही लिया "मित्र! तुम कैसे विचित्र हो? जो बिना ज्ञान के ही जीवों के गुप्त से गुप्त पुण्य-पापों का भी पता लगा लेते हो? उनके सभी शुभ-अशुभ भावों को न केवल पता लगा लेते हो, उनके पुण्य-पाप के अनुसार उन्हें दण्डित और पुरस्कृत करने की व्यवस्था भी कर देते हो? यह बात मेरी समझ में अभी तक नहीं आई। क्या तुम इसका रहस्य बताओगे?"

कर्मकिशोर ने कहा – "शुभाशुभ भावों के अनुसार दण्ड विधान करने से जानने न जानने का कोई सम्बन्ध नहीं है। जानने को तो सर्वज्ञ भगवान भी सबकुछ जानते हैं; परन्तु वे किसी को दण्डित व पुरस्कृत नहीं करते; क्योंकि वे वीतरागी हैं न! हमें भी कौनसा राग-द्वेष है, जो हम किसी का भला बुरा करें। अतः तुम्हारे शुभाशुभ परिणामों के अनुसार हम और तुम स्वतः लोह-चुम्बक की भाँति परस्पर बंध जाते हैं और हमारे उदय में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग स्वतः ऑटोमेटिक-बिना किसी के मिलाये ही मिलते-बिछुड़ते रहते हैं।"

"वस्तुतः बात यह है कि तुम सब स्वयं अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव और अपने कार्य की सीमाओं को भूलकर दुःखों के बीज बोते हो और अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारते हो। यदि तुम चाहो तो अपनी अनंतशक्तियों को पहचान कर, अपने स्वभाव की सामर्थ्य को जानकर हमारे बन्धन से मुक्त होकर सदा के लिए सुखी हो सकते हो। हम किसी को बिना कारण बलात् बन्धन में नहीं डालते। हमारा किसी से कोई वैर-विरोध है ही नहीं।"

कर्मकिशोर ने अपनी पीड़ा को व्यक्त करते हुए आगे कहा – "यद्यपि हमें दुष्ट कहकर कोसा जाता है। भोले भक्तों द्वारा भगवान से प्रार्थना की जाती है कि 'हे प्रभो! इन दुष्टकर्मों को निकाल दो और हमारी रक्षा करो'। हम पर यह मिथ्या आरोप लगाया जाता है कि 'हम जीवों को परेशान करते हैं।' हमारे विरुद्ध भजन बना-बनाकर ऐसा प्रचार किया जाता है कि –

कर्म बड़े बलवान जगत में पेरत हैं

एक भक्त ने तो यहाँ तक कह डाला –

मैं हूँ एक अनाथ, ये मिल दुष्ट घनेरे।
कियोबहुत बेहाल सुनिये साहिब मेरे॥

जबकि वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। हमारा १४८ सदस्यों का बड़ा परिवार है, जो बिल्कुल निर्दोष है। जब जीव अपने में शुभाशुभ भाव करते हैं तो हम सहज ही जीवों की ओर खिंचे चले जाते हैं, इसमें हमारा क्या दोष है? फिर भी जीव हमें ही दोषी ठहराता है।"

जीवराज के पहले पूर्वभव में किए सत्कर्मों के फलस्वरूप कर्मकिशोर ने उसकी रुचि के अनुकूल सभी लौकिक सुख-सामग्री जुटाने में कोई कमी नहीं रखी। उसे किसी से राग-द्वेष तो है नही। जीवराज ने पूर्व में सत्कर्म किये थे तो उनका फल तो उसे मिलना ही था, सो मिला है। कर्म तो मात्र निमित्त बनते हैं। इस कारण भी जीवराज को अपनी मनोकामनायें पूर्ण करने में कभी/कोई बाधा नहीं हुई। यद्यपि ये विषय भोगों की सब सुख-सुविधायें भी पूर्वकृत सत्कर्मों के फलस्वरूप ही मिलती हैं, परन्तु उन प्राप्त भोगों में उलझ जाने से व्यक्ति का भविष्य अंधकारमय भी हो जाता है।

कर्मकिशोर ने कहा – "जीवराज यह विवेक तुमको नहीं था। इस कारण तुम विषयान्ध हो गये। पूर्व पुण्योदय से तुम्हें समस्त भोग सामग्री और मनोनुकूल हमारी बहिन 'मोहनी' भी मिल तो गई; परन्तु उसमें उलझने से तुम्हारी जो दुर्दशा हुई, वह किसी से छिपी नहीं रही। तुम मोहनी के मोहजाल में फंस कर सातों व्यसनों में पारंगत हो गए। इसतरह तुम्हारी ही भूल से तुम्हारा सौभाग्य दुर्भाग्य में बदल गया। समता जैसी सर्वगुण सम्पन्न पत्नी के होते हुए भी तुम व्यसनों और विषय-कषायों के जाल में ऐसे फंसे कि निज घर की सुध-बुध ही भूल गए।

दिन-रात नृत्य-गान देखना-सुनना, सुरापान करना आदि तुम्हारी दिनचर्या के अभिन्न अंग बन गये। 'मोहनी' भी तुमसे इतनी आकर्षित हो गई कि उसने अपने पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आये दूसरों को सम्मोहित करने के धन्धे को तिलांजलि देकर अकेले तुमसे ही नाता जोड़ लिया। मोहनी के संसर्ग से तुम्हारी ममता, माया, अनुराग, हास्य, रति आदि अनेक अवैध संतानें हो गईं। वे सभी संतानें मोहनी जैसी माँ के कुसंस्कारों के कारण कुपथगामी होकर तुम्हारे गले का फन्दा बन गईं।"

जिस तरह पुण्योदय से प्राप्त मिष्ठान्न खाते-खाते पापोदय आ जाने से जीभ दांतों के नीचे आ जाती है, उसी तरह जीवराज के पूर्व पुण्योदय से प्राप्त भोगों को भोगते-भोगते पाप का ऐसा उदय आया कि उसकी दुनियाँ ही पलट गई।

किसी ने ठीक ही कहा है कि – **"सबै दिन जात न एक समान।"** विषयभोगों में मग्न सुख-सुविधा भोगी जीवराज के अल्पकाल में ही दुर्दिन आ गये। उसे अनेक रोगों ने घेर लिया। जवानी में ही जब यौवन क्षीण होने लगा और दुर्व्यसनों के कारण लक्ष्मी ने भी नाराज होकर मुँह मोड़ लिया तो मोहनी भी उसकी उपेक्षा एवं अनादर करने लगा।

अब तो जीवराज की स्थिति सांप-छछुंदर की तरह हो गई। कहते हैं कि सांप द्वारा छछुंदर का शिकार करते समय यदि वह छछुंदर उसके गले में अटक जाती है, तो उसके निगलने पर सांप का पेट फट जाता है और उगलने पर वह अंधा हो जाता है। यही दशा जीवराज की हो गई।

इन सब परिस्थितियों को देख-देख जीवराज अपने किए पर बहुत पछताया। अब उसे अपना भविष्य घोर अंधकारमय लगने लगा। वह किंकर्तव्य विमूढ़ सा हो गया और 'अब मैं क्या करूँ' इस सोच में पड़ गया।

यद्यपि इस दशा में उसे अपनी पूर्व पत्नी समता की बहुत याद आ रही थी परन्तु वह यह सोचकर सहम जाता था कि "अब मैं उसे अपना मुँह कैसे दिखाऊँ?" इसप्रकार जीवराज को अपनी भूल समझ में आ जाने पर अपनी भूल को सुधारने का उपाय सोचने लगा।

× × ×

समता बहुत ही सुशील, सरल स्वभावी, क्षमाशील, धैर्यवान और विवेकी नारी है। वह दूरदर्शी भी बहुत है। पति के ऐसे असह्य अक्षम्य अपराध करने पर भी वह विचलित नहीं हुई, क्रोधानल में नहीं जली। मोहनी जैसी पतिता नारी के प्रति ईर्ष्यालु नहीं हुई। तत्त्वज्ञान के बल पर उसने स्वयं को तो संभाला ही, परिजनों को भी धैर्य बंधाया और जीवराज के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए यह सोचकर आशान्वित बनी रही कि 'परिणामों की स्थिति सदा एकसी नहीं रहती।'

यद्यपि ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में विरले ही सहज-सामान्य रह पाते हैं; परन्तु उसके जीवन में यह धर्म का ही प्रभाव था, जिससे वह अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी सहज रह सकी। अन्यथा कषायों के

वशीभूत होकर व्यक्ति कैसे-कैसे अनर्थ कर बैठता है, यह किसी से छुपा नहीं है।

समता को अपने दुःखमय जीवन से अधिक चिन्ता जीवराज के अमूल्य मानव भव व्यर्थ बर्बाद होने की थी। अतः वह कामना करती थी कि किसी भी तरह इनकी ये दुष्प्रवृत्तियाँ दूर होना चाहिए और इन्हें आत्महित में लगना चाहिए; अन्यथा इनका यह अमूल्य मानव जीवन यों ही चला जायगा।'' कविवर दौलतरामजी ने ठीक ही कहा है –

'यह मानुषपर्याय, सुकुल सुनवो जिनवाणी।
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी।।

यदि यह मनुष्य पर्याय इसी तरह काम-भोग करते-करते बीत गयी तो पुनः मिलना असंभव नहीं तो महादुर्लभ तो है ही।'

यह पढ़ते-सुनते हुए भी सारा जगत मोहनींद में ऐसा बेसुध है कि उसे अपने हित की कुछ खबर ही नहीं है।

× × ×

जब समता को यह पता चला कि मोहनी जीवराज की उपेक्षा करने लगी है और उन्हें नाना प्रकार दुःख देने लगी है। बच्चे भी आवारा हो गये हैं। जिस लक्ष्मी पर जीवराज को बहुत गर्व था वह लक्ष्मी भी उससे रूठ गई है। जो कुछ कमाई की थी, उसमें से अधिकांश तो मोहनी की चौखट पर ही चढ़ गई। रही-सही यार लोग सुरापान में पी गये। जब बीमारी के इलाज की समस्या आई तो सभी दोस्त कन्नी काट गये।

समता ने देखा कि जीवराज अब दीन-हीन और असहाय हो गये हैं। उसे विचार आया कि – 'ऐसा न हो कि वे निराश होकर कुछ अनर्थ कर लें। अतः उनकी खोज-खबर तो लेनी ही होगी। न केवल पति के नाते; बल्कि मानवता के नाते भी तो ऐसे लोगों का सहयोग करना अपना कर्तव्य है।' – ऐसा सोचते-विचारते उसके मन में उन पर दया आ गई। उसका हृदय द्रवित हो गया।

उसने सोचा – 'सुबह का भूला यदि शाम को भी सही ठिकाने पर आ जाता है तो वह भूला नहीं कहलाता।'

कुछ लोग प्रथम श्रेणी के ऐसे समझदार होते हैं कि दूसरों को ठोकर खाते देख स्वयं ठोकर खाने से बच जाते हैं। दूसरी श्रेणी में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं ठोकर खाकर सीखते हैं तथा तीसरी श्रेणी के कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ठोकरों पर ठोकरें खाते हैं, फिर भी नहीं सीखते, संभलते – ऐसे लोगों को कोई नहीं बचा सकता।

समता ने मन ही मन कहा – "हमारे पतिदेव जीवराज प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण तो नहीं हो पाये; पर मुझे विश्वास है और आशा है कि वे दूसरी श्रेणी में तो उत्तीर्ण हो ही जायेंगे। अतः मैं उनसे मिलूँगी और बिना कुछ क्रिया-प्रतिक्रिया प्रगट किए, बिना कोई कम्पलेन्ट एवं कमेन्टस किए, उनके अहं को ठेस पहुँचाये बिना, उनकी मान मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए उन्हें पुनः घर वापिस लौटने हेतु विनम्र निवेदन करूँगी। उनसे कहूँगी – "कोई बात नहीं, आप भूत को भूल जाइए गल्तियाँ होना मानवीय कमजोरी है, जो यदा-कदा अच्छे-अच्छों से भी हो जाती हैं।"

वह जीवराज से मिली, उन्हें देखते ही उसका गला भर आया, कंठ रुंध गया। उसने जो कुछ सोचा था, कुछ भी नहीं कह सकी। जीवराज भी अपनी करनी पर इतना पश्चाताप कर चुके थे कि उनके सारे पाप पहले ही पश्चाताप की आग में जलकर खाक हो गये थे, रहे-सहे अश्रुधारा में बह गये।

जिस तरह सोना आग में तपकर कुन्दन बन जाता है, जीवराज भी पश्चाताप की ज्वाला में तपकर मानसिक रूप से कुन्दन की तरह पवित्र हो गया था। आंखों ही आंखों में जीवराज और समता पुनः बिना किसी कंडीशन (शर्त) के एक आदर्श पति-पत्नी के रूप में शेष जीवन जीने के संकल्प के साथ वापिस निज घर लौट आये।

सुखद संयोग में जीवन यापन करते हुए उनके दो संतानें हुई। पुत्र का नाम रखा विराग और पुत्री का नामकरण किया ज्योत्सना। "दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है" इस लोकोक्ति के अनुसार

जीवराज और समता ने अपनी दोनों सन्तानों को प्रारंभ से ही ऐसे सदाचार के संस्कार दिए ताकि वे सन्मार्ग से न भटक सकें।

जीवराज अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में जब स्वयं सही रास्ते से भटक गये थे और मोहनी से उनके जो संतानें हुईं वे सब उनकी ही लापरवाही से सन्मार्ग से भटके थे। अतः उन्होंने सोचा "अब तो प्रत्येक – नया कदम सोच-समझ कर ही उठाना होगा।" और उन्होंने ऐसा ही किया।

× × ×

यह तो बहुत अच्छा हुआ, जो उन्होंने अपने शेष जीवन को सात्विकता से जिया; परन्तु वे अभी भी अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करने से वंचित ही हैं; क्योंकि अब तक उन्हें उस अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द पाने के लिए जिस अन्तर्मुखी उपयोग की आवश्यकता होती है, वह उपयोग जिन कारणों या साधनों से अन्तर्मुखी होता है, वे साधन उनके पास नहीं हैं।

अन्तर्मुखी उपयोग करने का एकमात्र उपाय **वस्तु स्वातंत्र्य की यथार्थ समझ और श्रद्धा ही है;** क्योंकि वस्तु स्वातंत्र्य के ज्ञान-श्रद्धान बिना अन्य के भले-बुरे करने का भाव निरन्तर बना रहता है।

हम अनादिकाल से अपनी मिथ्या मान्यता के कारण ऐसा मानते आ रहे हैं कि "मैं दूसरों का भला-बुरा कर सकता हूँ, दूसरे भी मेरा भला-बुरा कर सकते हैं। इसकारण हम निरन्तर दूसरों का भला या बुरा करने तथा दूसरे हमारा बुरा न कर दें,इस चिन्ता में आकुल-व्याकुल बने रहते हैं। और इनके कर्तृत्व के भार से निर्भार नहीं हो पाते।"

जब हम वस्तु-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के माध्यम से यह समझ लें कि न केवल प्रत्येक प्राणी; बल्कि पुद्गल के प्रत्येक परमाणु का परिणमन भी स्वाधीन है, किसी भी जीव के सुख-दुःख का कर्त्ता-हर्त्ता कोई अन्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, स्वाधीन है, स्वसंचालित है। तब हम इस कर्तृत्व के भार से निर्भार हो सकेंगे।

ऐसी जानकारी और श्रद्धा के बिना जीव पर के कर्तृत्व के भार से निर्भार नहीं हो सकते और निर्भार हुए बिना जीवों का उपयोग अन्तर्मुखी नहीं हो सकता तथा अन्तर्मुखी हुए बिना आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द और निराकुल सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सर्वप्रथम 'वस्तु स्वातंत्र्य' के इस नैसर्गिक नियम को जानना और उस पर विश्वास करना बहुत जरूरी है, जिसका ज्ञान व श्रद्धान अभी तक जीवराज को नहीं हुआ। इसकारण अब तक वह सात्विक जीवन जीते हुए भी सच्चे सुख से वंचित ही रहा।

जीवन के उत्तरार्द्ध में भली होनहार से जब वह वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धांत की श्रद्धा के माध्यम से परकर्तृत्व के भार से निर्भार होकर अन्तर्मुखी हुआ और आत्मानुभूति के साथ सच्चे निराकुल सुख का स्वाद लेकर तृप्त हुआ तो उसके मन में बड़ी तेजी से यह विकल्प उठा कि "मेरे बेटा-बेटी इस सुख से वंचित न रह जाँय। मैं उन्हें भी यह सब बता दूँ;" परन्तु तब तक उसकी शारीरिक स्थिति बे-काबू हो गई। उसे अनायास लकवा लग गया। चाहते हुए भी वह अपनी संतान को उस अनुपम निधि की विधि नहीं बता पाया। इसलिए तो किसी ने कहा है –

'काल करन्ता आज कर, आज करन्ता अब।
पल में परलय होयगा, बहुरि करेगा कब॥'

यद्यपि जीवराज लकवा की स्थिति में बोल नहीं सकता, लिख भी नहीं सकता था; परन्तु उसकी समझ यथावत थी, समझ में कोई अन्तर नहीं आया था, सोचने की शक्ति भी पूर्ववत थी, इस कारण जीवन के उत्तरार्द्ध में बीमारी के पूर्व उसे जो वस्तुस्वातंत्र्य का महामंत्र मिल गया था, उसके चिन्तन एवं अनुशीलन की आँच से उसने अपने जीवनभर के सम्पूर्ण कर्तृत्व के अहंकार को पिघला दिया। आधि-व्याधि एवं उपाधि का त्यागकर समाधि की साधना करते हुए अपना जीवन सार्थक करने में अग्रसर हो गया।



२

धन्य है वह नारी

जब तक लकवे की गंभीर स्थिति में जीवराज नेत्र बंद करके समाधिस्थ होकर आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का स्मरण करता रहा, वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त के सहारे राग-द्वेष से ऊपर उठने का उग्र पुरुषार्थ करता रहा, एवं स्वरूप का रमण करते-करते वह कभी-कभी अर्द्ध मूर्च्छा को भी प्राप्त होता रहा, तबतक समतारानी उनके जीवन से निराश होकर आंसुओं को पीते हुए अपने धैर्य का परिचय देती रही। उसने अपने मुख मण्डल पर उदासी की एक रेखा भी नहीं आने दी।

यद्यपि वह जीवराज के चिरवियोग की कल्पना मात्र से अन्दर से पूरी तरह टूट चुकी थी; किन्तु वह जीवराज के जीवन को समाधि की साधना में सफल करना चाहती थी। अतः वह उसकी मरणासन्न विषम परिस्थिति में भी अपनी मनःस्थिति पर दृढ़ता से काबू किए रही और जोर-जोर से संसार-शरीर और भोगों से वैराग्योत्पादक भावनायें स्वयं भाती रही और पतिदेव को सुनाती रही।

संयोग क्षणभंगुर सभी पर आत्माध्रुवधाम है।
पर्याय लयधर्मा, परन्तु द्रव्य शाश्वत धाम है।।
इस सत्य को पहचानना ही धर्म का आधार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है।।

× × ×

निज आत्मा निश्चय शरण व्यवहार से परमात्मा।
जो खोजता पर की शरण वह आत्मा बहिरात्मा।।
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है।।

× × ×

जिस देह में आतम रहे वह देह ही जब भिन्न है।
तब क्या करें उसकी कथा जो क्षेत्र से भी अन्य है॥
हैं भिन्न परिजन भिन्न पुरजन भिन्न ही ध्रुवधाम है।
हैं भिन्न भगनी भिन्न जननी भिन्न ही प्रियवाम है॥
× × ×
अनुज-अग्रज सुत-सुता प्रिय सुहृद जब सब भिन्न हैं।
ये शुभ-अशुभ संयोगजा चिद्‌वृत्तियाँ भी अन्य है॥
स्वोन्मुख चिद्‌वृत्तियाँ भी आत्मा से अन्य है।
चैतन्यमय ध्रुवआत्मा गुणभेद से भी अन्य है॥[१]

इन भावनाओं को शान्त चित्त से सुनते-सुनते जीवराज की मूर्च्छा टूट गई, नेत्र खोल कर उसने देखा समता गंभीर मुद्रा में उदास बैठी वैराग्य भावना पढ़ रही है, वह मुस्कुराया, उसे मुस्कराते देख समता का मुखकमल भी खिल गया।

"सभी संयोग क्षणभंगुर हैं, पर्यायें लयधर्मा हैं, परिजन-पुरजन, जननी-भगनी, सुत-सुता, ध्रुव-धाम और प्रियवाम – सब भिन्न हैं, अशरण हैं; एकमात्र शुद्धात्मा और परमात्मा ही शरणभूत हैं।" ये सभी बातें जीवराज ने कान लगाकर सुनी थीं, इससे उसका वैराग्य और अधिक दृढ़ हो गया और उसने शेष जीवन संयम और साधना के साथ जीने का संकल्प ले लिया। अभी वह पूरी तरह स्वस्थ तो नहीं हो पाया, पर अपनी दिनचर्या किसी तरह समता के सहारे से कर लेता है और प्रवचनों के टेप, सी.डी. सुनकर अपना जीवन सार्थक कर रहा है।

समता को अत्यन्त उदास और दुःखी देखकर जीवराज को देखने आनेवालों में से एक ने कहा – "दूसरों को दुःखी न होने की सलाह देनीवाली समता स्वयं कैसी दुःखी हो रही है? क्या ये उपदेशमात्र दूसरों के लिए ही होते हैं?"

दूसरे साथी ने समाधान किया – "अरे भाई ! बिना जाने-समझे और बिना सोचे-विचारे तुम्हें किसी की ऐसी आलोचना नहीं करना

१ बारह भावना के छन्द – डॉ. भारिल्ल

चाहिए। ज्ञानी की भूमिका क्या/कैसी होती है, इसका तो तुम्हें कुछ पता है नहीं और ऐसे अवसर पर भी जो मुँह में आया कह दिया। जो सुनेगा वह तुम्हें ही मूरख कहेगा। **किसी भी बात को कहने के पहले उसकी प्रतिक्रिया दूसरों पर क्या होगी, इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए। खैर ....**"

सुनो ! कोई कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, ऐसी जानलेवा बीमारी की प्रतिकूल परिस्थितियों में तो धैर्य का बाँध टूट ही जाता है। वह साधु-सन्यासिन तो है नहीं; ज्ञानी ही तो है। जीवनभर का रागात्मक संबंध भला पलभर में विराग में कैसे बदल जायेगा। अभी तुम ऐसा क्यों बोलते हो? धीरे-धीरे देखना होता है क्या?

दूसरों को समझाना, ढांढस बंधाना अलग बात है और स्वयं का ऐसी खतरनाक बीमारी की विषम परिस्थिति में सहज रह पाना बात ही कुछ और है। रोगी की वेदना की कल्पना से ही रोना आ जाता है।

समतारानी का रोना कोई अनहोनी बात नहीं है, उसकी भूमिका में वह बिल्कुल स्वाभाविक है। फिर भी उसकी हिम्मत की दाद तो देनी ही पड़ेगी।

धन्य है उस नारी को, जिसने जीवराज को प्रत्येक भली-बुरी परिस्थिति में फूलों जैसा सहेजा, संभाला और उसकी सेवा-सुशुश्रा से ही वह निराकुलता से आत्मा-परमात्मा की आराधना करते हुए अपने जीवन को सफल कर रहा है।

जीवराज को इस दु:खद अवस्था में ढांढ़स बंधाने आनेवालों में एक व्यक्ति ने दूसरे के कान में जो कमेन्ट्स किया, वह बात कानों-कान समतारानी तक पहुँच ही गई। इसलिए तो कहा है – "**चतुकर्णे भिद्यतेवार्ता द्विकर्णे स्थिरी भवेत्**" **कोई बात चार कानों में पहुँची नहीं कि जग जाहिर हो जाती है। अतः किसी से कुछ कहने के पहले बात को विवेक की तराजू पर तौलना चाहिए।**

समता अत्यन्त सज्जन, सुशील और विवेकी तो है ही। उसने आगंतुक द्वारा किए उस कमेन्ट्स को अन्यथा अर्थ में नहीं लिया। बल्कि उससे यह नया सबक सीखा कि – **"जो दूसरों से शिक्षारूप में कहा जाय, उस पर स्वयं भी अमल करना चाहिए। किसी को कहकर नहीं सिखाया जा सकता, करके ही सिखाया जा सकता है। अन्यथा कही गई बात अप्रभावी ही रहेगी।"** यह सोचकर उसने तत्काल ही स्वयं को संभाला और सहज हो गई और सुबह-शाम को प्रतिदिन एक-एक घंटे जीवराज के पलंग के पास बैठकर सामूहिक स्वाध्याय करने की व्यवस्था भी की, ताकि तत्वाभ्यास के वातावरण से उसका उपयोग बदला रहे और उसे रोगजनित पीड़ा का अनुभव कम से कम हो। उसकी योजना सफल हुई और दु:ख का वातावरण एकदम सहज हो गया।

× × ×

जीवराज के बीमार होने से समतारानी को दु:ख तो होता है, पर पुण्य-पाप के फल का विचार कर वह स्वयं शांत रहती है और जीवराज को सहनशील बनने में निमित्त बनती है। उसने अपने समता नाम को सार्थक करते हुए अन्य साधारण नारियों की तुलना में स्वयं को बहुत कुछ संभाल लिया। वह आर्तध्यान के दुष्परिणाम से तो सुपरिचित है ही, तत्वज्ञान के अभ्यास से उसकी परद्रव्य में इष्टानिष्ट की मिथ्याकल्पना भी क्षीण हो गई।

वह जानती है कि "संयोग न सुखदायक है और न दु:खदायक है; और संयोगीभाव निश्चित ही दु:खदायक हैं। अत: जैसी/जो स्थिति है, उसी में सहज प्रयास करना चाहिए। कामना तो यह है कि वे निरोग हो जाँय; परन्तु यह किसी के हाथ की बात नहीं है, अत: हमसे उनकी जितनी अनुकूलता रखी जा सके वैसा उपाय करके उनकी सेवा में सावधानी वर्तना है।"

यह सोचते-विचारते समतारानी का पति एवं पुत्र-पुत्री के प्रति राग वैराग्य में बदल गया। उसने साम्यभाव से जीवन जीने का निश्चय कर

लिया। अब वह अपना सर्वाधिक समय भी जीवराज की सेवा-सुश्रुषा के साथ-साथ ध्यान और अध्ययन-चिन्तन मनन में ही बिताने लगी।

लकवा की बीमारी में व्यक्ति अधमरा-सा हो जाता है, हाथ-पैर काम नहीं करते, हिलना-डुलना भी मुश्किल होता है; बोलने में उच्चारण सही नहीं होता। यह लम्बे समय तक चलनेवाली बीमारी है। ऐसी हालत में अच्छों-अच्छों का धैर्य टूट जाता है, रोगी की उपेक्षा होने लगती है; पर समता उन नारियों में नहीं है, वह पति के लिए पूर्ण समर्पित है, उन्हें एक क्षण सूना नहीं छोड़ती, उसके इशारे पर दौड़-दौड़ कर काम करती है। धन्य है वह नारी जो दूसरों के दुःख में इसतरह साथ दे रही है।

× × ×

जीवराज ने समतारानी से कहा कि "समता ! यदि सम्यग्दर्शन मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है तो मैं दावे से यह कह सकता हूँ कि "**वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त उस मोक्ष महल की नींव का मजबूत पत्थर है**। जिस तरह गहरी जड़ों के बिना वटवृक्ष सहस्रों वर्षों तक खड़ा नहीं रह सकता, गहरी नीव के पत्थरों के ठोस आधार बिना बहु-मंजिला महल खड़ा नहीं हो सकता; उसी प्रकार वस्तु स्वातंत्र्य एवं उसके पोषक चार अभाव षट्कारक, परपदार्थों का अकर्तृत्व का सिद्धान्त, कारण-कार्य आदि की ठोस नींव के बिना मोक्ष-महल खड़ा नहीं हो सकेगा। अतः इसका सर्वाधिक प्रचार-प्रसार एवं परिचय होना ही चाहिए।"

जीवराज ने इसे क्रियान्वय करने की योजना भी बनाई थी, परन्तु अनायास ही वे लकवा से पीड़ित हो जाने के कारण इस काम को नहीं कर सके। समता ने संकल्प किया कि – "पतिदेव की कामना को मैं पूरा करूँगी। समतारानी ने यदि ठान लिया तो वह करके ही दिखायेगी; क्योंकि आज तक उसने जो ठाना वह करके ही दिखाया। उसका कोई काम अधूरा नहीं रहा।

× × ×

नारियों के विषय में मेरी यह दृढ़ अवधारणा है कि यदि नारी कोई क्रान्तिकारी कदम उठाती है तो निःसंदेह उसमें पुरुषों की तुलना में कई गुनी अधिक क्षमता होती है। अन्यथा वह कोई क्रान्तिकारी कदम उठा ही नहीं सकती।

लेकिन नारियों के बारे में दिनकर कवि ने कहा है –

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आंचल में है दूध और आंखों में पानी।।"

उनकी शारीरिक और मानसिक रचना ही प्रकृतिप्रदत्त कुछ ऐसी है कि वे पुरुषों की तुलना में वस्तुतः अबला हैं। एक तो मातृत्व के कारण वे करुणा और प्रेम की मूर्ति हैं और भावुकता के कारण बात-बात में आँसू आ जाते हैं। अपनी शील सुरक्षा की चिंता भी उन्हें सदैव बनी ही रहती है। इन सब कारणों से संरक्षकों द्वारा ही बाल्यावस्था से ही उनकी कोमल कली को मरोड़ सा दिया जाता है।

गुप्तजी द्वारा भी नारियों की दयनीय दशा को दर्शाते हुए कहा है –

नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी को ही लेकर।
अपने लिए सभी सुविधायें, पहले ही कर बैठे नर।।

तात्पर्य यह है कि साधारण नारी अपनी मान-मर्यादाओं में; सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक अंधविश्वासों में ऐसी जकड़ी, सिमटी रहती है कि वे सक्षम होकर भी अपनी क्षमता (योग्यता) को व्यक्त नहीं कर पातीं। उन्हें अपनी क्षमता व्यक्त करने के अवसर ही नहीं मिल पाते, इस कारण अधिकतर नारियों की क्षमता तो कुंठित ही हो जाती है।

विरली नारियाँ ही ऐसा साहस कर पाती हैं कि वे सामाजिक पुरातन पन्थी रूढ़ियों और धार्मिक अध विश्वासों से ऊपर उठकर आगे आये।

समतारानी उन विरली साहसी नारियों में अग्रगण्य है, इसकारण उसने धार्मिक क्षेत्र में वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को जन-जन का विषय बनाने की बात ठान ली है। हम कामना करते हैं कि वह अपने संकल्प में सफल हो। ●

३

वही ढाक के तीन पात

प्रखर प्रतिभा के धनी विराग ने जब माँ के सामने धनार्जन में महारत हासिल करने के लिए विशेष अध्ययन हेतु परदेश जाने की इच्छा व्यक्त की तो उसकी माँ ने उसे परदेश जाने से साफ मना कर दिया; क्योंकि वह जानती थी कि इस भोग प्रधान भौतिक युग में यदि पैसा जरूरत से ज्यादा हो जाय तो सन्मार्ग से भटक जाने की संभावनायें बढ़ सकती हैं; इसकी वह स्वयं भी भुक्तभोगी थी; फिर परदेश की तो बात ही निराली है। वहाँ का तो वातावरण ही भोग-प्रधान है। अतः वहाँ जाने की अनुमति देना तो संतान को कुएँ में धकेलने से भी बुरा है।

वस्तुतः विराग को अपने जन्म के पूर्व पिता के साथ घटी अघट घटनाओं की जानकारी नहीं थी और उसकी माँ उसे पिता का पूर्व इतिहास बताना भी नहीं चाहती थी; परन्तु वह अपने बेटे को वैसे ही वातावरण में जाने की अनुमति भी कैसे दे सकती थी ? अतः पहले तो उसने स्पष्ट मना ही कर दिया; परन्तु जब माँ ने उसकी परदेश जाने की तीव्र इच्छा, अति उत्साह और विशेष आग्रह देखा तो उसने **वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को स्मरण करते हुए और विराग की होनहार का विचार कर उसे अध्ययन हेतु परदेश जाने की अनुमति दे दी।** साथ ही अपने सदाचार को सुरक्षित रखने के लिए एक बार पुनः सचेत कर दिया।

लोक में बालहठ, त्रियाहठ और हमीर हठ – ये हठें प्रसिद्ध हैं; परन्तु समताश्री उन त्रियाओं में नहीं थी, वह विवेकशील थी, समय पर मुड़ना भी अच्छी तरह जानती थी। अतः उसने विराग को नहीं रोका

माँ समता को उसके अबतक के आचरण को देखकर ही उसके चरित्र पर पूर्ण विश्वास था तथा उसने विराग को पालने में झुलाते समय

भी लोरियाँ गा-गा कर सदाचार का पाठ पढ़ाया था। अतः वह विराग के प्रति पूर्ण आश्वस्त थी कि वह भोगों में नहीं भटकेगा।

× × ×

बहुआयामी व्यक्तित्व का धनी विराग अपनी माँ समताश्री से सदाचार की प्रेरणा पाकर परदेश में भी दुर्व्यसनों से सदा दूर तो रहा ही; नित्य देवदर्शन करने, रात्रि भोजन नहीं करने, पानी छानकर पीने, अभक्ष्य-भक्षण नहीं करने तथा लोक विरुद्ध कार्य न करने जैसे नैतिक नियमों का निर्वाह भी बराबर करता रहा।

वह दान-पुण्य परोपकार करने में भी कभी पीछे नहीं रहा; परन्तु आध्यात्मिक प्रवचन सुनने का सौभाग्य उसे अधिक नहीं मिला; क्योंकि पहले तो वह पढ़ाई करने के लिए परदेश में रहा, फिर उच्च शिक्षा के अनुकूल उत्तम आजीविका के लिए उसे परदेश में ही स्थाई रूप से रहना अनिवार्य हो गया; परन्तु वहाँ पर भी वह माँ को दिए हुए वचन को ध्यान में रखते हुए सदाचार और नैतिक नियमों का बराबर निर्वाह तो करता रहा; परन्तु वह मूल में भूल यह कर बैठा कि वह उस धर्माचरण रूप सदाचार को ही धर्म मानकर संतुष्ट हो गया। जबकि धर्म का स्वरूप धर्माचरण से कुछ अलग ही है।

भौतिकदृष्टि से भले ही परदेश लोगों को सुखद लगता हो, पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए वहाँ की स्थिति बिल्कुल भी अनुकूल नहीं है, वीतरागी साधु-सन्तों का आवागमन तो भौतिकवादी भोगप्रधान दूरस्थ देशों में संभव ही नहीं है, युवापीढ़ी के विद्वान भी वहाँ की चकाचौंध में चौंधियाकर वहीं के होकर रह जाते हैं और अपनी अर्जित विद्वता से हाथ धो बैठते हैं। वहाँ धन संचित करने की धुन में वे धर्म-ध्यान से वंचित हो जाते हैं। यदि हम बुजुर्ग विद्वानों की बात करें तो अधिकांश तो शारीरिक दृष्टि से इतने दुर्बल हो जाते हैं कि चाहकर भी अपनी सेवायें नहीं दे पाते। जो देते भी हैं उनके वे उपदेश भी **ऊंट के मुँह में जीरे** की

कहावत को ही चरितार्थ करते हैं। क्या होता है एक वर्ष में ४-५ प्रवचनों मे। अतः उत्तम तो यही है कि जहाँ भरपूर लाभ मिले वहाँ ही स्थाई आवास और आजीविका के साधन जुटाना चाहिए।

माँ ने विराग को फोन पर भी बहुत समझाया कि "बेटा ! यदि तुझे यह दुर्लभ मनुष्य जन्म सार्थक करना हो तो तू स्व-देश वापिस आ जा; परन्तु जब तक स्वयं की होनहार भली नहीं होती तब तक माँ की तो बात ही क्या, भगवान की बात भी समझ में नहीं आती। और संसार की उलझनों में अटके रहने के लिए कोई न कोई बहाना तो मिल ही जाता है। विराग को भी वहाँ रहने को अपना कैरियर बनाने का बहाना पर्याप्त था।

× × ×

उसकी पत्नी चेतना को भी कंप्यूटर इंजीनियर होने से अच्छी सर्विस मिल गई थी, इस कारण वह भी स्वदेश नहीं लौटना चाहती थी। वैसे स्वदेश लौटने के विचार को बल मिलने का एक प्रबल कारण यह बन रहा था कि परदेश में ही जन्मी एवं भारतीय भाषा और संस्कृति से सर्वथा अपरिचित उसकी इकलौती बेटी अनुपमा अब विवाह योग्य हो चली थी। पाश्चात्य-संस्कृति में पली-पुसी होने और उसी वातावरण में निरन्तर रहने से कालेज में साथ-साथ पढ़ने वाले कुछ ऐसे लड़कों से उसकी मित्रता हो गई जो कभी भी उसके चरित्र को कलंकित कर सकते थे। उनका मिलना-जुलना और घर आना-जाना रोकना भी संभव नहीं था। अत. एक दिन विराग और चेतना को यह निर्णय लेने के लिए बाध्य होना पडा कि "अब तो परदेश प्रवास छोडना ही होगा, अन्यथा हम अपनी-लाडली बेटी से ही हाथ धो बैठेंगे।"

आत्म कल्याण करने एवं परलोक सुधारने के लिए भले ही कोई तत्काल ऐसे निर्णय न ले पाये; पर संतान का मोह कुछ ऐसा ही होता है कि उनके लिए जो भी करना पड़े, लोग करते हैं।

जब तक वह परदेश में रहा तो वहाँ भी माँ और गुरुजनों की भावनाओं का ध्यान रखते हुए धर्माचरण तो करता रहा, परन्तु उसे अभी तक उस धर्माचरण के प्रयोजन का कुछ पता नहीं था। यदि उससे कोई पूछले कि तुम यह सब क्यों करते हो? क्या लाभ मिला है तुम्हें अब तक उस धर्माचरण के पालन से? और उसका वास्तविक फल क्या है? तो उनके, क्या-क्यों-किसलिए; आदि प्रश्नों का उसके पास कोई संतोषजनक समाधान नहीं था। बस, माँ और गुरुजनों ने जैसा/जो करने को कहा; आँख मीचकर उनके निर्देशों का पालन करता आ रहा था।

फिर क्या था – दो-चार घंटे विचार-विमर्श करके उन दोनों ने स्वदेश लौटने का निर्णय कर लिया और छह माह के अन्दर वापिस स्वदेश आ भी गये। एक दिन उसने स्वयं सोचा – "अभी तक उसे वह धर्म हाथ नहीं लगा, जिसके फल में कषायें कृश होती हैं, विषय वासनायें क्षीण होतीं हैं, राग-द्वेष की आग बुझती है, परपदार्थों में इष्टानिष्ट कल्पनायें नहीं होतीं। उसने सुना था कि धर्म के फल में यह सब होता है, पर उसमें अब तक ऐसा कुछ नहीं हुआ।

वह सोचता है – "अभी भी बात-बात में क्रोध आ जाता है, छोटी-छोटी बातों से मुझे मान-अपमान की फीलिंग होने लगती है, यश-प्रतिष्ठा का लोभी भी मैं कम नहीं हूँ, इस हेतु जो भी दाव-पेंच करना पड़ते हैं, करने में पीछे नहीं रहता।

मैंने यह भी सुना है कि धर्मरूपी वृक्ष से निराकुल सुख और आत्मशान्ति के ऐसे मधुर फल प्राप्त होते हैं जिन्हें पाकर जीव अनन्त काल तक के लिए अनन्त सुखी हो जाता है। पर मुझे वे सुख-शान्ति के फल आज तक प्राप्त नहीं हुए, जबकि मैं धर्म के लिए पूर्ण समर्पित हूँ। मेरी यही एक ज्वलन्त समस्या है, एतदर्थ मुझे और क्या करना होगा? यह प्रश्न उसके सामने ज्यों का त्यों खड़ा है।

१. छहढाला, तीसरी ढाल छन्द-१

मेरे साथ तो अब तक वही 'ढाक के तीन पात' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। जिसतरह दिन-रात पानी बरसने पर भी ढाक की एक टहनी में तीन पत्ते ही निकलते हैं, उसी तरह इतना सब कुछ करते हुए भी मेरे पल्ले भी निराकुल सुख-शान्ति के नाम पर विशेष कुछ भी नहीं पड़ रहा है। वैसे ही मोह-माया, वैसी ही कषायें, वही विषय वासना कहीं कोई भी फर्क तो नहीं पड़ रहा है। आखिर ऐसा क्यों होता है?

मैं तो छोटे-छोटे प्रतिकूल प्रसंगों में आज भी आग बबूला हो जाता हूँ। बदले की भावना इतनी प्रबलरूप ले लेती है कि मरने-मारने को भी तैयार हो जाता हूँ।

मुझे इस स्थिति में देखकर लोग कहते हैं 'इन धर्मात्माओं से तो हम अधर्मात्मा ही अच्छे हैं, भले धर्म का ढोंग नहीं करते; पर क्रोधावेश में ऐसे बे-काबू भी नहीं होते।' वे कहते हैं – 'ये कैसे क्षमाधर्म के धारक हैं इन पर तो 'मुँह में राम बगल में छुरी' वाली कहावत चरितार्थ होती है। 'उत्तम क्षमा-क्षमा' कहते रहते हैं और क्रोध करते रहते हैं।

मैंने तो एक बार यह भी सुना था कि 'धर्म साधना से पाप के बीजरूप परिग्रह आदि वैभव के सुखद संयोगों की ममता टूटकर समता भाव जागृत हो जाता है। आत्मध्यान और तत्त्व चिन्तन में चित्त एकाग्र होता है। राग-द्वेष रहित होकर वीतरागता की ओर अग्रसर होते हैं; परन्तु मेरे जीवन में ऐसा कुछ भी तो नहीं हुआ। इसकारण आज भी वह प्रश्न ज्यों का त्यों निरुत्तरित है।

कैसा होगा वह धर्म का स्वरूप, जिससे जन्म-जरा, भूख, प्यास, रोग, शोक, मद, मोह आदि दोषों का अभाव होकर वीतराग भाव जागृत होता है? आत्मा-परमात्मा बन जाता है। आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल सुख सरोवर में निमग्न होकर सदैव परम शान्ति और शीतलता का अनुभव करता है। धर्माचार्य तो यह कहते हैं कि – 'धर्म से तो समता भाव के साथ त्रैकालिक स्थाई आनन्द का झरना झरता रहता है।' मैं माँ के सान्निध्य में रहकर उस धर्म को समझने का प्रयास करूँगा।''

इसके विपरीत जिसे मैं जीवन भर चारित्र का विशालवृक्ष समझता रहा और उससे समान रूप फल पाने की प्रतीक्षा करता रहा, वह तो वस्तुतः चारित्र ही नहीं है, तो उसमें समतारूपी फल मिलेगा ही कहाँ से? वह तो सामान्यश्रावक का सदाचार है, जो दूर से देखने पर चारित्र जैसा ही दिखाई देता है, इसी कारण बहुतों को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यही धर्म है। मैं भी उस भ्रम में भ्रमित हो गया था।"

वैसे लौकिक दृष्टि से तो वह धर्माचरण भी यथास्थान आवश्यक है। उसका फल दुर्व्यसनों से और दुराचार से बचना है, सो वह भी उनसे तो बचा ही रहा। जिसप्रकार कोई बड़े नींबू और नारंगी के अन्तर को न जाने और दोनों को एक ही माने तो वह लोक की दृष्टि से मूर्ख ही माना जाता है। तथा जैसे कोई एरण्ड और पपीता के पेड़ में बाहर से समानता देखकर एरण्ड को ही पपीता मान ले अथवा पपीता के पेड़ को ही एरण्ड समझ ले तो वह भी मूर्ख ही माना जाता है, उसी प्रकार यदि कोई शुभभाव रूप धर्माचरण को शुद्ध (वीतरागता) रूप धर्म समझ ले तो यह तो उसकी भूल ही है। यही स्थिति चारित्र और सदाचार की है। सदाचार को चारित्र नहीं माना जा सकता।"

विराग को विचार मग्न देख माँ ने पूछा – "अरे ! तू यहाँ अकेला बैठा बैठा क्या सोच रहा है?"

विराग बोला – "माँ ! धरम-धरम सब कहते हैं, पर धर्म के मर्म को बहुत कम व्यक्ति जानते हैं। मैं स्वयं अभी तक धर्म का मर्म नहीं जान पाया, भले ही सब लोग मुझे धर्मात्मा कहते हैं, क्योंकि वे मेरी मात्र बाहरी धार्मिक क्रियायें ही देखते हैं, मेरी अन्तरंग प्रवृत्ति कैसी है? इसका मेरे सिवाय अन्य किसी को क्या पता?' मैं यही सब सोच रहा हूँ।"

माँ ने कहा – "यह तो बहुत अच्छी बात है। तेरा सोचना बिल्कुल सही है। जब तूने अपनी भूल समझ ली और हर कीमत पर सत्यधर्म पाना ही है यह ठान लिया है तो तुझे धर्म का मर्म शीघ्र समझ में आनेवाला ही है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है।" ●

४

पूर्वाग्रह के झाड़ की जड़ें गहरी नहीं होतीं

बुन्देलखण्ड की प्रसिद्ध कहावत है, प्रचलित लोकोक्ति है कि –

जैसे जिसके नाले-नादियाँ, वैसे उनके भरका।[1]

जैसे जिनके बाप-महतारी, वैसे उनके लरका॥[2]

माता-पिता के संस्कार सन्तानों पर पड़ते हैं, इस बात का ज्ञान कराने वाली उक्त कहावत में कहा गया है कि – "जैसे छोटे-बड़े गहरे-उथले नाले-नदियाँ होतीं हैं, उनके गढ्ढ़े भी वैसे ही छोटे-बड़े, गहरे-उथले होते हैं।

ज्योत्स्ना और विराग भी इसके अपवाद नहीं थे। जहाँ – ज्योत्स्ना पर माँ की परछाई पड़ी थी, वहीं विराग पर पिता के व्यक्तित्व की छाप थी। तभी तो विराग ने उच्च शिक्षा के लिए माँ के मना करने पर भी अपना आग्रह चालू रखा था। अन्त में माँ को ही मुड़ना पड़ा। माँ ने वस्तु -स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की शरण में जाकर और बेटे की होनहार का विचार कर एवं अपनी छाती पर धैर्य की शिला धरकर उसे इस विश्वास के साथ परदेश जाने की अनुमति दी थी कि एक दिन विराग अवश्य वापिस आयेगा।

बाद में जिसतरह जीवन के उत्तरार्द्ध में जीवराज को सद्बुद्धि आ गई और उसका मानवजीवन सार्थक हो गया। उसी तरह विराग भी विदेश से वापिस आ गया।

जीवराज के लकवा की बीमारी से ग्रस्त हो जाने से माँ समता के ऊपर अपनी बेटी ज्योत्स्ना के जीवन को संभालने, उसे पढ़ाने और योग्य वर तथा धार्मिक घर तलाशने की जिम्मेदारी विशेष बढ़ गई थी।

१. गढ्ढे   २. सतानें

श्रद्धा में वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त का अटूट विश्वास होने पर भी जब तक गृहस्थ जीवन में अपनी संतान के प्रति राग है, तबतक उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने के विकल्प नहीं छूटते।

माँ समता की यह भावना थी कि ज्योत्स्ना को ऐसा वर और घर मिले कि जिससे उसके पारिवारिक जीवन का निर्वाह भी शांतिपूर्वक हो और परलोक भी न बिगड़े। सौभाग्य से ऐसा ही बनाव बन गया। ज्योत्स्ना को बुद्धिमान, स्वस्थ, सुन्दर और तेजस्वी गणतंत्र जैसा वर और एकदम खुले विचारों वाला घर-परिवार मिल गया था। इसकारण माँ आश्वस्त हो गई थी कि अब ज्योत्स्ना के दोनों लोक सुधर जायेंगे; परन्तु सगाई हो जाने के बाद समता की एक सहेली ममता ने बिना माँगे मुफ्त में यह सलाह दे डाली थी। उसने कहा – "और तो सब ठीक है, परन्तु आजकल सासें बहुत बदनाम हैं, लड़के का स्वभाव भी तेज है। जरा सोच-समझकर कदम उठाना।"

समता ने सोचा – "जो माँ, बेटे के गोद में आते ही घर में बहू बुलाने के सपने सजोने लगती हो, ज्यों-ज्यों बेटा बड़ा होता है, त्यों-त्यों उन स्वप्नों को साकार करने के लिए उत्सुक होने लगती हो। निरन्तर प्रतीक्षारत रहती हो, और जिसने पलक पाँवड़े बिछाकर बहू का स्वागत किया हो; भला वह सासू माँ उसी बहू से बुरा व्यवहार कैसे कर सकती है? और आखिर वह ऐसा काम करेगी ही क्यों; जिससे स्वयं बदनाम हो और पूरा परिवार दुःखी हो ? और लड़के को तो तेजस्वी होना ही चाहिए।"

समता आगे सोचती है – "सहेली की सलाह में ही कहीं कुछ दाल में काला है। कुछ औरतों की आदत भी इधर की उधर, उधर की इधर करने की होती है। ये ममता भी भिड़ाने में कम नहीं है।

बहू को घर में लाने के पहले सासें ही तो पसंद करती हैं। फिर भी न जाने क्यों? लोक में सासों पर ही बुरे व्यवहार का आरोप लगाया जाता है? उन्हीं को बदनाम क्यों किया जाता है खैर ! जो भी हो।"

यह सोचकर समता पहले से ही इस बात से सजग रही कि कहीं "ऐसी ही कोई घटना ज्योत्स्ना के साथ न घट जाय अन्यथा उस सहेली की बात सच हो जायेगी और उसे कहने का मौका मिल जायेगा तथा मेरे हाथ केवल पछतावा रह जायेगा। अतः शादी के पहले सही-सही पता तो एक बार लगाना ही होगा।"

गहराई से शोध-खोज करने पर, समता को पता चला कि "प्रायः होता यह है कि – लड़कियों की शादी के पूर्व उनकी सखी-सहेलियाँ, भाभियाँ और बड़ी बहिनें आदि जो उन अविवाहित लड़कियों की मौज-मस्ती से, नाज-नखरों से तथा घरेलू कामों में हाथ न बटाने से परेशान रहतीं हैं, वे समय-समय पर हंसी-मजाक में अपनी प्रतिक्रिया प्रगट करते हुए कह दिया करतीं हैं कि 'बहना! और कुछ दिन मौज-मस्ती करलो, अपनी नींद सो लो और अपनी नींद जागलो; फिर सुसराल में तो सबके सो जाने पर ही सो सकोगी और सबसे पहले जागना पड़ेगा। और जब चक्की, चौका-चूल्हे का काम भी तुझे ही चुप-चाप रहकर करना पड़ेगा, तब नानी याद आयेगी।

भूल जाओगी राग-रंग, अर भूल जाओगी छकड़ी।[1]
बात-बात में डाँट पड़ेगी सासू माँ की तगड़ी।।"

यदि मुँह खोला, कुछ कहा-सुना और नाक-भौं सिकोड़ी तो पतिदेव द्वारा लात-घूँसा से पूजा भी हो सकती है; क्योंकि पत्नियों का पतियों से पिटना तो भारतीय परम्परा रही है।"

समता विचारों में डूबी यह सब सोच ही रही थी कि – ज्योत्स्ना की भाभी बीच में ही बोली – "और हाँ, सुन ज्योत्स्ना ! तेरी ससुराल में मैं तो तेरे साथ जाऊँगी नहीं, जो अभी बिस्तर पर ही गर्म-गर्म चाय और बिस्कुट लाकर देती हूँ। इसलिए – कम से कम चाय बनाना सीख ही ले।"

यह सब देख/सुनकर समता इस निष्कर्ष पर पहुँची कि – "सुसराल के बारे में ऐसे कमेन्ट्रस सुनते-सुनते लड़कियाँ ससुराल पक्ष से आतंकित

१ उछलकूद

होकर पूर्वाग्रहों में पलती हैं और तनावग्रस्त हो जाती हैं। धीरे-धीरे उन पूर्वाग्रहों से प्रभावित होकर वे मुखर हो जाती है। उनका मानस ऐसा बन जाता है किं मानो वे सुसराल नहीं, बल्कि किसी युद्धस्थल की सीमा रेखा पर जा रहीं हों।''

ससुराल पहुँचते ही मैं-मैं, तू-तू से बात प्रारंभ होती और बात-बात में वाक्‌युद्ध प्रारंभ होने लगता।

इस मैं-मैं, तू-तू के संदर्भ में यदि बहुएँ आत्मनिरीक्षण करें, और सासू माँ के उन संजोये स्वप्नों का सर्वेक्षण करें, जो सासू माँ ने बहू के शुभागमन के पूर्व संजोये थे तथा उस दृश्य को याद करें, जब उसने पलक पाँवड़े बिछाकर बहू का स्वागत किया था तो कभी ऐसी मैं-मैं, तू-तू की समस्या ही नहीं आयेगी।

समता आश्वस्त हो गई कि ''इसमें सासों का कोई दोष नहीं है, बेटियाँ और बहुएँ भी अधिक दोषी नहीं है। यह तो घर के आंगन में रोपा गया वह कटीला झाड है, जिसे आसानी से उखाड़ा जा सकता है। इस पूर्वाग्रहरूप झाड़ की जड़ें जमीन में गहरी नहीं, पत्थर पर हैं, अत· चिन्ता की कोई बात नहीं हैं। मैं ज्योति में इस हठाग्रह के अंकुर को पनपने ही नहीं दूँगी, उसके दिल से निकाल दूँगी।

× × ×

माँ समता सोचती है – ''गणतंत्र के माता-पिता पूर्व परिचित ज्योत्स्ना जैसी सुशील भोली-भाली बुद्धिमान बहु को पाकर अपने जीवन को धन्य मान रहे हैं, परन्तु प्रारंभ में एक-दूसरे की भावनाओं को न समझ पाने से कभी-कभी सास-बहू के विचारों में मतभेद भी खड़े होना अस्वाभाविक नहीं हैं। यद्यपि सास और बहू – दोनों के हृदय साफ होते हैं, परन्तु विचार भेद तो हो ही सकते हैं। जो सोचते हैं, विचारते हैं, उन्हीं के विचारों में ही तो कभी किसी बात में सहमति तो कभी किसी बात में असहमति भी होती है। जिनके मति होती है, उन्हीं के तो सहमति और असहमति होती है। अत· यह कोई बुरा लक्षण नहीं है। विचार मन्थन में

यह जरूरी भी है, मन्थन से ही तो मक्खन निकलता है न! अन्यथा सही और अच्छे निष्कर्ष ही नहीं निकलेंगे। हाँ, बातों-बातों में अशान्ति और मन मुटाव नहीं होना चाहिए।''

× × ×

माँ समता ज्योत्स्ना बेटी को समझाती है – ''बहुएँ या सासें कोई कठपुतलियाँ तो नहीं; जो दूसरों की उंगलियों के इशारे से नाचतीं हैं। सबकी अपनी-अपनी इच्छायें होती हैं, अपने-अपने विचार होते हैं, उन्हें सुनें-समझें; फिर एकमत हों तो ठीक; अन्यथा कोई बात नहीं। जो जिसे जँचे करने दो; सब अपने-अपने मन के मर्जी के मालिक हैं, राजा हैं, उन्हें मर्जी का मालिक और मन का राजा ही रहने दें।

वस्तुस्वातंत्र्य के महामंत्र का स्मरण करके कोई किसी के काम में हस्तक्षेप न करें। **न स्वयं अपने मन को मारे और न दूसरों के मन को मरोड़े।** यही सुख-शान्ति से रहने का महामंत्र है। अतः वस्तुस्वातंत्र्य का महामंत्र जपो और आकुलता से बचो। यही संतों का उपदेश है, आदेश है।'' – यह सब समता ने ज्योति को समझाया।

ज्योत्स्ना ने कहा – ''माँ ! तुम्हारा वस्तु स्वातंत्र्य का मंत्र वास्तव में सब मंत्रों में श्रेष्ठ है। समस्त विषय-विकार का विष नष्ट करने में समर्थ हैं, परन्तु इसे कैसे जपें? इसकी विधि बताओ न !''

माँ ने कहा – ''हाँ सुनो ! वस्तुस्वातंत्र्य सिद्धान्त को समझने/समझाने के लिए पहले यह जाने कि – स्वतंत्रता के तीन रूप होते हैं। (१) अस्तित्वात्मक स्वतंत्रता (२) क्रियात्मक स्वतंत्रता (३) ज्ञानात्मक स्वतंत्रता। इनमें प्रथम व द्वितीय स्वतंत्रता तो सभी वस्तुओं में अनादि से है ही; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तुओं का अस्तित्व और उनमें होने वाला क्रियारूप स्वभाव-परिणमन तो अनादि से स्वाधीनतापूर्वक हो ही रहा है; किन्तु ज्ञानात्मक स्वतंत्रता अज्ञानी जीवों को नहीं है अर्थात् अज्ञानी को अपने स्वतंत्र अस्तित्व और क्रिया की स्वाधीनता का ज्ञान नहीं है।

अज्ञानी जीव वस्तुस्वातंत्र्य के ज्ञान से अनभिज्ञ होने से अपनी सुख-शान्ति को देहाधीन, कर्माधीन और सुखद संयोगों की अनुकूलता में खोजता है। इसकारण स्वतंत्र होते हुए भी ज्ञानात्मक स्वतंत्रता नहीं है। किसी ने कहा भी है –

सबके पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं।
यातें भयो कंगाल, गाँठ खोल देखी नहीं।।

यह कहावत तब की है जब लोग बहुमूल्य हीरे जवाहरातों को धोती के पल्ले में गॉठ लगाकर बाँधकर रखते थे। उस बात को कवि ने उक्त दोहे में कहा है कि – सबके पल्ले में बहुमूल्य लाल बंधे हैं, अर्थात् सभी लखपति हैं, परन्तु उन्होंने अपने पल्ले की गाँठ खोल कर ही नहीं देखी, यही उनकी कंगाली का कारण है।

हीरों से भी अधिक अमूल्य, पूर्ण स्वतंत्र, स्वावलम्बी, स्वसंचालित एवं स्वयं सुख स्वभावी होते हुए स्वयं को नहीं जाना, अपने को नहीं खोजा, देहादि में ही अपने अस्तित्व को मानता-जानता रहा है। जहाँ सुख नहीं वहाँ सुख ढूँढा, जहाँ हीरे नहीं, वहाँ हीरे खोजे।''

माँ समता श्री ने आगे कहा – ''इस तरह अज्ञानी जन अपने उस मौलिक स्वरूप से अपरिचित हैं, अनभिज्ञ हैं, इस कारण जो स्वाभाविक कार्य-कारण व्यवस्था है, सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, उन्हें वैसा न मानकर उनमें अपना एकत्व एवं कर्तृत्व मानते रहे हैं। और बिना वजह हर्ष-विषाद करते हैं, सुखी-दु:खी होते हैं और राग-द्वेष में पड़कर अपना ससार बढ़ाते हैं। उन्हें अपने ज्ञान में उस स्वतंत्रता का पता नहीं होने से स्वयं पराधीन हो रहे हैं – ऐसी स्वतंत्रता के एक नहीं अनेक उदाहरण पुराणों में और लोक में भी भरे पडे हैं।

कहा जाता है कि तोता पकड़ने वाले अपने ही आंगन में एक नलनी पिरोई रस्सी बाँधते हैं, रस्सी के नीचे खाने का दाना भी रख देते है, तोता आता है, नलनी पर बैठता है, उसके बैठते ही नलनी घूमती है तोता औंधा लटक जाता है, वह घबराहट में अपने उड़ने की चाल भूल जाता है और बहेलिये द्वारा पकड लिया जाता है। इसी तरह यह जीव अपनी स्वतंत्रता की चाल भूला हुआ है। कहा भी है –

"अपनी सुध भूल आप, आप दुःख उपायो।
ज्यों शुक नभ चाल विसरि नलनी लटकायो॥

इस तरह ज्ञानात्मक स्वतंत्रता के अभाव में जीव दुःखी हैं।

इसी संदर्भ में एक उदाहरण रेगिस्तानी ऊँटों का है – सौ ऊँटों का काफिला लिए रेबारी (काफिले का मालिक) शहर की ओर जा रहा था। रेबारी के पास रास्ते में पड़ाव पर ऊँटों को बाँधने के लिए १०० खूँटी व रस्सियाँ थीं।" रास्ते में एक खूँटी व रस्सी खो गई। ९९ रस्सियों से ९९ ऊँट तो पड़ाव पर बाँध दिये, किन्तु १००वें ऊँट को बाँधने की समस्या थी। रेबारी को उपाय सूझा और उसने उस ऊँट के पास जाकर ठक-ठक की आवाज की और उसके गले में हाथ फेरकर उसे बँधने का भ्रम पैदा कर दिया। वह ऊँट अपने को बँधा मानकर बैठ गया। सवेरे ९९ ऊँट खोल दिए और वे चल भी दिये; परन्तु वह सौवाँ ऊँट उठा ही नहीं। उसे भ्रम था कि मैं तो बँधा हूँ, क्योंकि मालिक ने खोला ही नहीं था, मालिक भी समझ गया कि मैंने बेचारे को खोला ही नहीं तो यह उठेगा कैसे? वह ऊँट के पास गया और जैसे बाँधने की क्रिया की थी, वैसे ही खोलने की प्रक्रिया की तो ऊँट तुरंत उठा और चल दिया।"

माँ के इस मार्मिक संदेश को सुनकर ज्योत्स्ना बहुत प्रसन्न हुई। बचपन में सखी-सहेलियों और भाभियों द्वारा की गई भ्रमोत्पादक बातों से उसके मन में सास, पति और ससुरालवालों के प्रति पूर्वाग्रह से जो भ्रम उत्पन्न हो गया था, वह माँ के द्वारा वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझाने से तथा ससुराल पक्ष की मनोवैज्ञानिक विचाराधारा का ज्ञान कराने से समाप्त हो गया; क्योंकि भ्रम रूप झाड़ की जड़ें तो पत्थर पर ही होती है न।

इसी तरह जबतक संसारी जीव स्वतंत्र होते हुए भी अपनी मान्यता में स्वयं को बंधन रूप मानेगा तब तक मुक्त नहीं हो सकता। अतः हम वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त के द्वारा अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान करें और सुखी हों।





माँ और सरस्वती माँ

विराग धर्म का पिपासु और जिज्ञासु तो है ही। उसे जहाँ भी धर्म की बात पढ़ने-सुनने को मिलती, वह उसे न केवल पढ़ता-सुनता; बल्कि उस पर गहराई से विचार भी करता।

एक बार उसने विष्णु शर्मा द्वारा लिखी गई पंचतंत्र पुस्तक में एक श्लोक पढ़ा था –

"तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुत्योर्विभिन्नः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुफायां, महाजनो येन गता स पंथः॥

इसका अर्थ यह है कि – पृथ्वी बहुत बड़ी है, परस्पर विरुद्ध कथन करनेवाले मुनिगण अनेक हैं, धर्म का तत्त्व मानो किसी गुफा में मुंह छुपाकर बैठ गया है, अतः अब तो जिस मार्ग से महापुरुष चलें वही धर्म का पंथ है।"

इस संदर्भ में विराग विचार करता है कि "वर्तमान विश्व के लगभग छह अरब आदमियों में शायद ही कोई ऐसा हो जो किसी न किसी रूप में धर्म को न मानता हो। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी समझ एवं श्रद्धा के अनुसार धर्म को मानते ही हैं।

इस दृष्टिकोण से देखें तो सभी व्यक्ति धर्मात्मा है और सभी स्वयं को धर्मात्मा मानते भी हैं। धार्मिक आस्था के कारण पापी से पापी व्यक्ति भी पाप करने के पहले परमात्मा को जरूर याद करता है। यह तो पता नहीं कि वह कैसा धर्मात्मा है? जो परमात्मा को सर्वज्ञ मानता है, फिर भी उन्हीं के सामने खुलकर पाप करता है; जबकि एक साधारण पुत्र पिता के सामने बीड़ी-सिगरेट पीने से भी डरता है। क्या दुनिया में ऐसा भी कोई भगवान है जो पाप करने वाले की भी मदद करता है? खैर! जो भी हो,

परन्तु वे नाम से तो धर्मात्मा हैं ही; क्योंकि वे किसी न किसी रूप में धर्म को तो मानते ही हैं न?"

विराग आगे सोचता है कि उपर्युक्त संदर्भ में एक बात यह भी विचारणीय है कि – 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्नः' इस सत्य सूक्ति के अनुसार सारी दुनिया में जितने व्यक्ति हैं, उनमें सबके विचार भिन्न-भिन्न होते हैं, एक दूसरे के विचार परस्पर में एक-दूसरे से कभी नहीं मिलते। उनमें सम्पूर्ण रूप से समानता संभव ही नहीं है, क्योंकि प्रकृति से ही सबके सोचने का स्तर एवं उनके ज्ञान का स्तर समान नहीं होता।

इसी ध्रुव सत्य का प्रतिपादन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं –

"हैं जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।
अतएव ही निज-पर समय के साथ वर्जित वाद भी।।"[1]

जगत में जीव नाना प्रकार के हैं, उनके कर्मों का उदय भी भिन्न-भिन्न प्रकार का है, उनके सबके ज्ञान का विकास भी एक जैसा नहीं है। अत. विचार भी एक जैसे नहीं हो सकते हैं।

यही कारण है कि जितने व्यक्ति, जितने वर्ग, जितनी जातियाँ, जितने उनके कर्म, उतने ही बन गये धर्म। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति नोटों और वोटों के चक्कर में मानव सेवा-धर्म आदि अनेक नकली धर्म खड़े करके मानव का पोषण करने के बजाय उनका शोषण करता है। इस तरह धर्म का मूल स्वरूप ही गायब हो गया, बदल गया।

इन्हीं सब कारणों से मैं ही क्या, सम्पूर्ण शिक्षित युवा जगत धर्म के संबंध में किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो रहा है। अतः जिसकी समझ में परम्परागत पूर्वाग्रहों वश जो बात जम गई, वही उसका धर्म बन गया।

इतना ही नहीं, मनःस्थिति तो यहाँ तक आ पहुँची है कि धर्म के नाम पर जो जैसा धर्माचरण करता है, वह उसे ही सही धर्म का स्वरूप

---

१ नियमसार गाथा १५६ का पद्यानुवाद 'युगल'।

समझता है और दूसरों से भी वही/वैसा ही धर्माचरण करने की अपेक्षा रखता है, अन्यथा अपने को धर्मात्मा और अन्यों को अधर्मात्मा घोषित करता रहता है, जबकि धर्म के वास्तविक स्वरूप से वह स्वयं भी अभी अनजान है।

विराग ने माँ से कहा – 'मैंने एक बार यह सुना था कि धर्म तो वस्तु का स्वरूप है और वस्तु का स्वरूप बनाया नहीं जाता। वह तो अनादि-अनन्त-त्रिकाल आग की उष्णता और पानी की शीतलता की भाँति एकरूप ही होता है।

त्रिकाली स्वभाव सदा एकरूप ही रहता है, उसे पाने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, बल्कि करना बंद करना पड़ता है अर्थात् अनादिकाल से वस्तु स्वरूप के अज्ञान के कारण जो हमारी परद्रव्य में कर्तृत्व बुद्धि है, उसे छोड़ना पडता है। जिस तरह पानी का स्वभाव ठंडा है उसे ठंडा रखने के लिए और आग का स्वभाव उष्ण है उसे उष्ण रखने के लिए क्या करना पड़ता है? कुछ भी नहीं। इसी तरह आत्मा का स्वभाव जानना है, समता है, क्षमा है तो जानने के लिए और सहज समता रखने के लिए क्या करना पडता है, कुछ भी नहीं।''

माँ ने कहा – ''बेटा ! तूने यह जो सुना-समझा है, बिल्कुल सही है।

जिस तरह आग का स्वभाव उष्ण है, उसी तरह आत्मा का स्वभाव जानना है; क्षमा, निरभिमान, निष्कपट तथा निर्लोभ है। ये ही आत्मा के धर्म हैं।

जगत में भी ऐसा कोई मजहब, सम्प्रदाय और जातिगत धर्म नहीं है जो क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि तथा अहिंसा-सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को धर्म नहीं मानता हो तथा क्रोध-मान-माया-लोभ और मोह-राग-द्वेष तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को अधर्म न मानता हो। वस्तुतः ये ही धर्म/अधर्म हैं।''

यह सब सुनकर और उनके अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं प्रवचन आदि को देखकर विराग को ऐसा लगा कि "माँ को धार्मिक ज्ञान बहुत है। मैं धर्म का स्वरूप समझने के लिए अपनी माँ को ही गुरु बना लूँ? माँ से बढ़कर अभी और कोई ज्ञानी-ध्यानी और विरागी नजर भी तो नहीं आता। माँ घर में रहकर भी गृह विरत हैं, निरंतर स्व-पर कल्याण में संलग्न है। माँ धर्मध्यान की धुन में इतनी मग्न रहती है कि धर्म चर्चा-वार्ता के सिवाय अन्यत्र उसका मन लगता ही नहीं है। अतः मैं अन्य लोगों की भाँति यह गलती नहीं करूँगा कि **'घर में आये नाग न पूजें बामी पूजन जाँय'** यह तो मेरा परम सौभाग्य ही है कि वे मेरी माँ भी है और सरस्वती माँ भी।"

ऐसा विचार कर उसने निश्चय कर लिया कि "मैं कल से प्रतिदिन प्रातः और शाम को एक-एक घंटे माँ के प्रवचनों में अवश्य बैठूँगा।"

अब वह अपनी माँ को माँ के रूप में कम और साक्षात् सरस्वती माँ के रूप में अधिक देखने लगा और भारी श्रद्धा भक्ति से उनके प्रवचनों को बड़े ध्यान से सुनने लगा एवं समझने की कोशिश करने लगा।

विराग ने सोचा – "जब तक वक्ता के प्रति श्रोता की ऐसी श्रद्धा भक्ति नहीं होगी और सम्पूर्ण समर्पण नहीं होगा एवं उनके प्रवचनों को ध्यान से नहीं सुनेगा तब तक उसे तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं होगा।" यही सोचकर विराग और चेतना ने माँ को गुरु जैसा बहुमान दिया।

एक दिन विराग ने माँ से अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया कि – "माँ! धर्माचरण तो मैं आपकी प्रेरणा से बचपन से ही कर रहा हूँ, परन्तु उससे धन-वैभव आदि परपदार्थों के प्रति मेरा आकर्षण एवं ममत्व कम नहीं हुआ, क्रोधादि कषायें यथावत हैं, विषय-वासना की प्रवृत्ति भी पूर्ववत ही है, अतः मैं वह धर्म समझना चाहता हूँ जिससे इन सबसे मुक्ति मिले; क्योंकि इनके कारण आकुलता बनी ही रहती है, जबकि धर्म का फल तो निराकुलता है – ऐसा मैंने छहढाला आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में पढ़ा है।"

विराग की गंभीर और महत्वपूर्ण समस्या के समाधान के रूप में माँ समताश्री ने धर्ममहल की नींव के पत्थर के रूप में वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझाते हुए प्रवचन में कहा –

"वर्तमान में मान्य 'विश्व' का स्वरूप मात्र उन कुछ देशों, द्वीपों तक ही मर्यादित है, सीमित है, जहाँ मानव जाति निवास करती है; जबकि वास्तविक विश्व का स्वरूप शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत 'छह द्रव्यों के समूह को कहा है।' उन छह द्रव्यों में जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त है; धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा काल द्रव्य असंख्य हैं। इन अनादि-अनंत स्वतंत्र, स्वाधीन स्वावलम्बी स्वसंचालित द्रव्यों में जो अनन्त जीव द्रव्य हैं, उनमें हम भी एक द्रव्य हैं। इस कारण हममें भी उपर्युक्त सभी विशेषतायें घटित होती हैं अर्थात् हम भी अनादि-अनन्त, सम्पूर्ण रूप से स्वाधीन-स्वतंत्र, स्वावलम्बी हैं, किन्तु हम अपने इस मौलिक स्वरूप से अपरिचित हैं, अनभिज्ञ हैं, इस कारण जो स्वाभाविक कार्य-कारण व्यवस्था है, सहज-निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, उन्हें वैसा न मानकर उनमें अपना एकत्व एवं कर्तृत्व मान लेते हैं, हर्ष-विषाद करते हैं, सुखी-दु:खी होते हैं और राग-द्वेष में पड़कर अपना संसार बढ़ाते हैं।"

माँ ने आगे कहा – "छह द्रव्य के समूह रूप त्रिलोकव्यापी अनादि-अनन्त स्व-संचालित विश्व के स्वतंत्र अस्तित्व का परिचायक 'वस्तुस्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है, जो कि स्वाभाविक कार्य-कारण व्यवस्था और सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का मूल आधार है।

यह सिद्धान्त ही हमें सम्पूर्ण रूप से स्वावलम्बी बना सकता है; क्योंकि विश्व का कण-कण सम्पूर्णतः परनिरपेक्ष, स्वाधीन, स्वतंत्र, स्वसंचालित एवं स्वावलम्बी है। उसे अपने अस्तित्व के लिए एवं परिणमन के लिए रंचमात्र भी पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं है।"

प्रवचन के बीच में ही विराग बोला – "यदि यह बात मैं पहले ही सुन/समझ लेता तो इतनी देर नहीं होती। जीवन का बहुभाग समय धर्म के नाम पर यों ही चला गया।"

माँ ने समाधान करते हुए कहा – "देर होती कैसे नहीं, प्रत्येक कार्य होने का अपना स्वकाल होता है, पर्यायगत योग्यता होती है जो काम जब होना होता है, तभी होता है, जिस उद्यम पूर्वक होना होता है, वैसा उद्यम भी उससमय अपनी तत्समय की योग्यता से होता है। जैसी होनहार होती है तदनुसार होता है, जिन निमित्त कारणों की उपस्थिति में होना होता है, वे सब कारण कलाप एक साथ सहज में मिलते चले जाते हैं, उसमें हमें, तुम्हें किसी को भी कुछ भी तो नहीं करना है" – यह चर्चा करते हुए माँ ने काल पर बहुत जोर दिया। तथा 'काल' का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि – "काल का अर्थ तत्समय की योग्यता ही है। इस हिसाब से तुम्हारी वस्तु स्वातंत्र्य की समझ का यही काल था, देर कहाँ हुई। शास्त्रीय शब्दों में कार्य के सम्पन्न होने की प्रक्रिया को पाँच समवायरूप कहा गया है – वे इसप्रकार हैं – स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार, काललब्धि और निमित्त। कार्य निष्पन्न होने में ये पाँचों कारण मिलते ही मिलते हैं। ऐसा ही वस्तु स्वरूप है और यह सब प्रक्रिया ऑटोमेटिक सम्पन्न होती है, इसके लिए कुछ करना नहीं पड़ता।"

विराग को यह सब जानकर भारी संतोष हुआ। उसने कहा – "माँ श्री मुझे अभी इस वस्तुस्वातंत्र्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानना है? एक सबसे अहं प्रश्न तो यह है कि – 'वस्तु स्वातंत्र्य' को स्वीकार करने पर फिर अहिंसा/हिंसा करने, न करने के उपदेश का क्या होगा? इस विषय में जितना सोचता हूँ, उतना ही उलझता जाता है, और सोचता हूँ कि धर्म के नाम पर जो अबतक किया, क्या वह सब भ्रम था। क्या मेरे साथ वह कहावत ही चरितार्थ हुई कि 'खोदा पहाड़ और निकली चुहिया और वह भी मरी हुई।' सचमुच ऐसा लगता है कि अब तक धर्म के नाम पर किया गया सारा श्रम व्यर्थ ही गया।"

माँ ने कहा – "आज का समय समाप्त हुआ, शेष चर्चा कल करेंगे। सभा विसर्जित हुई, सभी कल की प्रतीक्षा में अपने-अपने घर चले गये।

●

६

वस्तु स्वातंत्र्य और अहिंसा

प्रतिदिन की भाँति आज भी माँ समता श्री का प्रवचन प्रातः ठीक ८.१५ पर प्रारंभ हुआ। विराग और चेतना को श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में बैठे और प्रवचन की प्रतीक्षा करते देख माँ गौरवान्वित तो हुई ही, मन ही मन प्रसन्न भी हुई; क्योंकि प्रायः होता यह है कि दुनिया की दृष्टि में भगवान जैसा महत्व होने पर भी बेटा-बहू और घर-परिवार वालों को घर के विद्वान वक्ता की महिमा नहीं आती। यद्यपि इसमें मात्र परिवार वालों का ही दोष नहीं होता, किन्हीं-किन्हीं पारिवारिक धर्मप्रवक्ताओं का दुहरा व्यक्तित्व भी इसमें कारण होता है; वे घर-परिवार में कुछ और होते हैं और धर्मक्षेत्र में कुछ और। परन्तु समता श्री उन लोगों में नहीं है उनका हृदयपूर्ण पवित्र है, वे जो कुछ करती हैं, वह सब स्वान्त-सुखाय ही करती हैं तथा जो कुछ कहती हैं, वह सब पवित्र भावना से परहिताय ही कहती हैं, उसमें उनका किंचित भी निजी (व्यक्तिगत)कोई लौकिक स्वार्थ नहीं होता।

यों समताश्री अपने बेटे-बहू को भी, बेटे-बहू की दृष्टि से कम और आत्मार्थी के नजरिया से अधिक देखती हैं। अतः उनके लक्ष्य से प्रवचन करने पर भी अन्य सभी श्रोता हर्षित ही होते हैं। विराग की पैनी बुद्धि से उद्भूत शंकाओं के समाधानों से सभी लोग लाभान्वित भी बहुत होते हैं।

"वस्तु स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा की स्थिति कैसे संभव है?" इस प्रश्न के समाधान के लिए विराग और चेतना आतुर हैं। वे सही-सही समाधान पाने के प्रति पूर्ण आश्वस्त हैं। उन्हें विश्वास है कि आज उनकी बहुत दिनों से उलझी पहेली सुलझेगी, उन्हें उनकी शंकाओं का समाधान मिल ही जायेगा।

समता श्री ने प्रवचन प्रारंभ करते हुए कहा – "आज 'अहिंसा परमोधर्मः' का नारा विश्व विख्यात है। भगवान महावीर के नाम से तो अहिंसा का नाम जुड़ा ही हुआ है, महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा के नाम पर ही भारत को आजाद कराया है। इसकारण आज विश्व में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो अहिंसा शब्द से परिचित न हो।

वैसे भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह संग्रह को सारी दुनिया पाप मानती है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को पुण्य व धर्म मानती है।

रामायण, महाभारत, गीता जैसे जगप्रसिद्ध ग्रन्थों में भी इन पुण्य-पाप रूप क्रियाओं का कथन होने से सारा जगत इनसे सामान्यतः सुपरिचित है।

हिंसा में प्रवृत्त मानव भी सिद्धान्त रूप से अहिंसा को ही अच्छा मानते हैं; यह उनके आत्म कल्याण के लिए शुभ लक्षण है। जिसे आज वे सिद्धान्त रूप से सही मानते हैं, उन्हें कभी जीवन में अपना भी सकते हैं। अत हिंसा-अहिंसा के स्वरूप और इनके हेयोपादेयता को चर्चित रखना भी अति आवश्यक है।

कल विराग का प्रश्न था कि – 'वस्तुस्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा का अस्तित्व कैसे संभव है? अत· आज इसी विषय पर विचार करेंगे।'

विराग की मूल समस्या यह है कि – 'जब वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के अनुसार विश्व के समस्त द्रव्य-गुण एवं उनमें प्रति समय परिणमित होने वाली पर्यायें पूर्ण स्वतंत्र हैं, कोई भी द्रव्य-गुण-पर्यायें, किसी अन्य द्रव्य-गुण-पर्यायों के कर्त्ता-धर्ता नहीं है और कोई भी द्रव्य, अन्य द्रव्य के परिणमन में किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं करता।

सर्वज्ञता के आधार पर आगम भी इसी बात का समर्थन करता है कि –

'होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम?'[१]

यह आत्मगीत तो सम्पूर्ण जैन जगत में प्रचलित हैं।

उपर्युक्त वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के अनुसार जब न केवल जन-जन की, न केवल जीव मात्र की; बल्कि पुद्गल के एक-एक परमाणु के परिणमन की स्वतंत्रता है तो ऐसी स्थिति में हिंसा/अहिंसा की स्थिति क्या बनेगी? क्या जीवों की रक्षा करने, दया करने और हिंसा, झूठ आदि पाप न करने का उपदेश व्यर्थ नहीं हो जायेगा?"

समताश्री ने आगे कहा – "विराग की सोच बहुत गजब की है, उसके तर्क सटीक हैं, युक्तियाँ प्रबल हैं। देखो! विराग ने आगम भी पढ़ लिया है। तभी तो वह आचार्यों के उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए कहता है – 'यह वस्तु स्वातंत्र्य और हिंसा-अहिंसा की बात किसी व्यक्ति विशेष की मान्य या किसी दर्शन विशेष में उल्लिखित अवधारणा मात्र नहीं है, मनमानी सोच नहीं है; अपितु यह सत्य तथ्य हैं, सम्पूर्ण विश्वस्तरीय जैन-जैनेतर आगम (शास्त्र-पुराण) इसके लिए समर्पित है। जो खोजेगा वह वस्तु स्थिति की तह तक कभी न कभी तो पहुँच ही जायेगा।

सामान्यतः सभी धर्मों में और आम आदमियों के सोच के अनुसार प्रायः अहिंसा-हिंसा की एक यही परिभाषा की जाती है कि 'जीवों को मारना, सताना या दुःख देना हिंसा है एवं प्राणियों का घात न होना या उनकी रक्षा करना अहिंसा है।'

किन्तु यह परिभाषा परिपूर्ण नहीं है। इसी लोक प्रचलित परिभाषा के कारण विराग के मन में ये प्रश्न खड़े हुए हैं। वस्तुतः हिंसा, अहिंसा का स्वरूप ही कुछ और है।

आचार्य कहते हैं आगम में लिखा है कि – 'जीवघात होने पर भी यदि व्यक्ति का इरादा उसे घात करने का नहीं हो तो उसे हिंसक नहीं माना

---

१. क्षु. मनोहरलालजी वर्णी

जाता। जीवघात तो अनेक कारणों से हो जाता; होता ही रहता है; जैसे – प्राकृतिक प्रलय, तूफान, बाढ़, महामारी, आगजनी, भूकम्प आदि अनेक ऐसी घटनायें होतीं ही रहती हैं; जिनमें असंख्य मानव पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े और पेड़-पौधों तक का घात हो जाता है, फिर भी हिंसा का पाप किसी को नहीं लगता। उसे हिंसा कहते भी नहीं है।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी के घात करने की सोचता भी है तथा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कोई ऐसी योजना बनाता है, जिसमें जीवों के मरने की संभावनायें होती हैं तो भले ही उसके सोच के अनुसार व्यक्ति का घात न हो और उसकी वह हिंसक योजना फेल हो जाने से एक जीव का घात न भी हो तो भी वह घात करने की सोचनेवाला और योजना बनानेवाला हिंसक है, अपराधी है; क्योंकि उसने सोचने एवं योजना बनाते समय जीवों के घात की परवाह नहीं की।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अन्य जीवों के मरने-न मरने से नहीं है, बल्कि स्वयं के अभिप्राय से है। यदि स्वयं का परिणाम क्रूर है और अभिप्राय जीवों के घात का है तो हम नियम से हिंसक हैं तथा अभिप्राय में क्रूरता और जीवघात की भावना नहीं है तो अन्य जीवों के मरने पर भी हम अहिंसक हैं जैसे कि – ऑपरेशन थियेटर में ऑपरेशन करते-करते मरीज मर जाता है, किन्तु उस मौत के कारण डॉक्टर को हिंसक नहीं माना जाता। अतः जीव के मरने जीने से हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है।

दो हजार वर्ष पूर्व लिखे आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि – '**प्रमत्तयोगातप्राणव्ययरोपणं हिंसा**' अर्थात् प्रमाद के योग से हुआ जीवघात ही हिंसा है। वह प्रमाद १५ प्रकार का है – ४ कषायें, ४ विकथायें, ५ इन्द्रियों के विषय और निद्रा व प्रणय इनको आत्मा में होना भाव हिंसा एवं प्राणों का व्यपरोपण द्रव्य हिंसा है और इनका आत्मा में

उत्पन्न न होना ही अहिंसा है। इस सूत्र में प्रमत्तयोग वाक्य का अर्थ भावहिंसा और 'प्राण व्यपरोपण' वाक्य का अर्थ द्रव्य-हिंसा है।

विराग बोला – "वस्तु स्वातंत्र्य का अर्थ तो मैं समझ गया हूँ कि – लोक में सभी द्रव्य अपने आप में परिपूर्ण, स्वाधीन, स्वावलम्बी और परनिरपेक्ष हैं। उनके अस्तित्व और परिणमन के लिए किसी अन्य द्रव्य की कतई आवश्यकता नहीं है। उनका अपना स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल एवं स्व-भावरूप स्व-चतुष्टय है। जिनके कारण उनका स्वतंत्र अस्तित्व है और उनके अपने स्वतंत्र पाँच समवाय हैं, पाँच कारण हैं; जिनसे उनका पर्यायरूप परिणमन होता है। उन समवायों के नाम हैं – १. स्वभाव, २. पुरुषार्थ, ३. होनहार ४. काललब्धि और ५. निमित्त; परन्तु इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि द्रव्य/अहिंसा के साथ इस वस्तु स्वातंत्र्य का समायोजन कैसे हो यह स्पष्ट करें।"

इस प्रश्न के उत्तर में, समताश्री ने कहा –"प्राणघातरूप द्रव्य हिंसा तो व्यवहार नय का कथन है, क्योंकि वह निमित्त सापेक्ष है। वास्तव में तो अन्य जीवों के जीवन, मरण, सुख-दुख से भी हिंसा-अहिंसा का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। उनके जीवन-मरण एवं सुख-दुःख में भी अंतरंग निमित्त कारण तो उनके ही आयुकर्म तथा साता-असाता वेदनीयकर्म हैं और उपादानकारण वे स्वयं हैं।

दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्राकृत भाषा में लिखा हैं, जिसका हिन्दी पद्यानुवाद इस प्रकार है –

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन!
निज आयु क्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं?
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।

यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन!॥
सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं?॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो?॥
हैं सुखी होते दुखी होते कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दुःख दे किस भाँति तब॥
जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से।
'मैं दुःखी करता-मरता' – यह बात क्यों मिथ्या न हो?॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे॥[१]

अतः जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ, और पर जीव मुझे मारते हैं, मैं जीवों की रक्षा करता हूँ, उन्हें सुखी-दुःखी करता हूँ या वे मुझे बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं। वह मूढ़ (मोही) है, अज्ञानी है, इसके विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

आचार्य अमृतचंद्र ने वस्तु स्वातंत्र्य के संदर्भ में जीवों में हिंसकपना एवं अहिंसकपना सिद्ध करते हुए कलश में कहते हैं कि –

जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख सब प्राणियों के सदा ही।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुक्ख-सुख।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है॥[२]

इस जगत में जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख – यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होते हैं। दूसरा पुरुष दूसरे के जीवन मरण, सुख-दुःख का कर्त्ता हैं – यह मानना तो अज्ञान है।

---
१ समयसार पद्यानुवाद डॉ भारिल्ल २ वही

जो पुरुष पर के जीवन-मरण, सुख-दुःख का कर्ता दूसरों को मानते हैं, वे अहंकार रस से भरे हैं कर्मेन्द्रिय को करने के इच्छुक होने से नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले होने से हिंसक है।[१]"

आगम में जो स्व और अन्य प्राणियों की अहिंसा की बात कही गई है, वह केवल आत्मरक्षा के लिए है, पर के लिए नहीं।

आज से एक हजार वर्ष पूर्व आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के स्वरूप का जिस सूक्ष्मता से कथन किया वैसा अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। वस्तु स्वातंत्र्य के संदर्भ में उनके कतिपय अत्यन्त उपयोगी तथ्य प्रस्तुत हैं। हिंसा-अहिंसा के स्वरूप का उद्‌घाटन करते हुए वे कहते हैं कि – "वस्तुतः तो हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अपने आत्मा से ही है, परजीवों की हिंसा तो कोई कर ही नहीं सकता। मूल कथन इसप्रकार है –

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्य हिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

आत्मा में रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।"[२]

पण्डित टोडरमलजी ने भी लिखा है कि हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषय सेवन में अभिलाषा मूल है। इसे ही यदि द्रव्य हिंसा व भाव हिंसा के रूप में कहें तो इस प्रकार कह सकते हैं – रागादि भावों के होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता का घात होना भावहिंसा है और अपने रागादिभाव निमित्त है जिसमें – ऐसे अपने पराये द्रव्य प्राणों का घात होना द्रव्य हिंसा है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पराये प्राणों के घात में द्रव्यहिंसा का पापबंध किसको हुआ। हमारे राग-द्वेष से स्वयं की भावहिंसा तो

१ समयसारकलश १६८, १६९
२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक ४४

होती ही है, पर जीवों के घातों में भी हमारे राग-द्वेष ही निमित्त बनते हैं, अतः व्यवहार में निमित्त पर आरोप होने से द्रव्य हिंसा भी हमारी ही हुई। क्योंकि उस द्रव्य हिंसा के फल का भागीदार भी हमारा राग-द्वेष ही है। अन्य जीव का मरण तो उसके आयुकर्म के अनुसार होना ही था सो हुआ। फिर भी निश्चय से हमारे रागादि भावहिंसा एवं उपचार से उस मृत्यु को द्रव्य हिंसा कहने का व्यवहार है। परन्तु पर के जीवन-मरण से किसी को कोई पुण्य-पाप नहीं होता। पुण्य-पाप तो हमारे प्रमाद के कारण ही होता है। वस्तुतः दोनों प्रकार की हिंसा एक व्यक्ति में ही हुई, क्योंकि अन्य के प्राणों के व्यपरोपण से वही निमित्त बना है न! कहा भी है –

"सूक्ष्मापि न खलु हिंसा, परवस्तु निबन्ध ना भवति पुंसः
हिंसायतन निवृत्ति परिणाम विशुद्धये तदपि कार्याः॥

यद्यपि परवस्तु के कारण सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती, तथापि अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के आयतनों से तो बचना ही चाहिए।"[१]

इसप्रकार यद्यपि वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की स्वीकृति में भूमिकानुसार अहिंसा के उपदेश में कोई बाधा नहीं आती; किन्तु ध्यान रहे, मारने के भाव की भाँति बचाने के भाव भी शुभभाव होने से हिंसा का ही दूसरा प्रकार है। अतः यह भी बंध का ही कारण है। और मैं पर जीव की रक्षा कर सकता हूँ या मार सकता हूँ – यह मान्यता तो मिथ्यात्व है, इस बात को अवश्य ध्यान में रखना योग्य है।

विराग ने कहा – "वस्तु स्वातंत्र्य के संदर्भ में अहिंसा" विषय तो स्पष्ट हो गया; परन्तु अभी जो निमित्त की बात आई है, उस परद्रव्य रूप निमित्त का वस्तु स्वातंत्र्य में क्या स्थान है?

समता श्री ने आश्वस्त किया – 'आज का समय पूरा हुआ, कल वस्तुस्वातंत्र्य को निमित्त-उपादान के आलोक में समझायेंगे।' ●

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ४९

७

राष्ट्रीय स्वतंत्रता और वस्तुस्वातंत्र्य

समता श्री प्रवचनार्थ आसन पर बैठीं ही थीं कि उनकी नजर सामने बैठे समधी स्वतंत्रकुमार और जवाँई गणतंत्रकुमार पर जा पड़ी। महिला कक्ष में ज्योत्स्ना भी बैठी थी। उन्हें प्रवचन में आया देखकर – समताश्री ने मन ही मन प्रसन्न होते हुए उनका परिचय कराने हेतु हँसते हुए कहा – ''स्वतंत्रता प्रेमियों को १५ अगस्त और २६ जनवरी के आजादी के दिन इतने महत्वपूर्ण हो गये हैं कि उन दिनों में जन्मे सहस्त्रों शिशुओं के नाम भी स्वतंत्रकुमार और गणतंत्रकुमार रखे गए। जिसके प्रमाण के रूप में हमारे सामने स्वतंत्र कुमार और गणतंत्र कुमार दोनों बैठे हैं। ऐसे स्वतंत्रता प्रेमी परिवार के महानुभाव श्री स्वतंत्रकुमारजी और चि. गणतंत्रकुमार आज धर्मसभा में पधारे हैं, हम उनका स्वागत करते हैं और प्रतिदिन पधारने के लिए आमंत्रित करते हैं।

संयोग से बेटी ज्योत्स्ना के श्वसुर और पति का जन्मदिन भी १५ अगस्त और २६ जनवरी है, इसीकारण उसके स्वसुर का नाम श्री स्वतंत्रकुमार और पति का नाम चि. गणतंत्रकुमार रखा गया होगा।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए समताश्री ने कहा – ''यद्यपि प्रजातंत्रीय प्रणाली के संदर्भ में 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' – यह नारा अति उत्तम है। इस नारे ने ही सैकड़ों वर्षों से परदेशियों की पराधीनता में जकड़ी जनता के कानों में जागरण का मंत्र फूँककर उसे पराधीनता से मुक्त कराया है। एतदर्थ इसमें हुई कुर्बानी की जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। देश को परदेशियों की गुलामी से सदा मुक्त रहना ही चाहिए; परंतु हम यहाँ जिस वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की बात कर रहे

हैं, वह धर्म और दर्शन में प्रतिपादित वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त इस राष्ट्रीय स्वतंत्रता से बिल्कुल भिन्न है। दोनों में दीपक और सूरज जैसा महान अन्तर है। यदि राष्ट्रीय स्वतंत्रता दीपक है तो वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त सूरज है।

वस्तुतः राष्ट्रीय स्वतंत्रता का उस आध्यात्मिक वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि यह राष्ट्रीय स्वतंत्रता तो केवल मानव समाज तक ही सीमित है। वह भी मात्र विदेशी शासन-प्रशासन एवं भारतीय राजतंत्रीय और जागीरदारी, जमीदारी प्रथा से आजाद कराने तक ही सीमित है। साथ ही स्वदेशी प्रजातंत्रीय प्रणाली में और शासकीय-प्रशासकीय नियमों का निर्वाह करने, कानूनों की पालना करने की पराधीनता तो इसमें भी कम नहीं है। इतना ही नहीं पारिवारिक भरण-पोषण के लिए नौकरी चाकरी करने की परतंत्रता भी है ही। अतः इस लौकिक स्वतंत्रता से वह आध्यात्मिक वस्तुस्वातंत्र्य की बात बिल्कुल निराली है। दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं।

लौकिक आजादी के सम्बन्ध में एक व्यंगकार ने तो व्यंग में यहाँ तक कह डाला कि – ''यह कैसी आजादी? जिसमें मनमाने ढंग से सड़क पर चलने की भी आजादी नहीं। जगह-जगह नोटिस बोर्ड लगे 'चलो सड़क की बाँयी पटरी' खाने-पीने की आजादी नहीं, यदि भाँग खाकर या शराब पीकर रोड़ पर निकले तो पुलिस पकड़ कर कोतवाली में बिठा देती है, जहाँ देखो वहाँ 'नो एन्ट्री' के नोटिस बोर्ड लगे हैं। पालतू पशुओं जैसे बन्धन हैं; फिर भी कहते कि हम आजाद हैं।'' खैर !

व्यंगकार ने तो कुछ अधिक ही कह दिया; फिर भी पराधीनता तो कदम-कदम पर है ही। इसलिए हम दृढता से कह सकते हैं कि वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त से इस लौकिक स्वतंत्रता और परतंत्रता का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि यह मात्र मानव के व्यवहारिक जीवन की बातें हैं और वह आध्यात्मिक सिद्धान्त है, जिसे समझने से और जिसकी श्रद्धा से हम

निश्चिंत और निर्भार होकर ध्यान और अध्ययन, चिन्तन-मनन कर अर्न्तमुखी हो सकते हैं।''

स्वतंत्रकुमार और गणतंत्रकुमार भी इस प्रवचन को ध्यान से सुन रहे थे। उनके मन में अनेक प्रश्न उठे; क्योंकि ऐसा आध्यात्मिक प्रवचन उन्होंने पहली बार ही सुना था। वह ज्ञान-वैराग्य परक प्रवचन सुनकर उनका हृदय हिल गया। वे बहुत ही प्रभावित हुए; परन्तु उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि न केवल जन-जन की स्वतंत्रता और न केवल मात्र जीवों की स्वतंत्रता, ये तो कण-कण की स्वतंत्रता की बात कह रहीं हैं। यह कैसे संभव है ?

स्वतंत्रकुमार सोचता है – ''क्या कण-कण अर्थात् पुद्गल का एक-एक परमाणु स्वतंत्र है ? मैंने अबतक प्रवचनों में ऐसा सुना है कि – 'आत्मा कर्मों के आधीन है, कर्म बहुत बलवान होते हैं, ये जीवों को नाना प्रकार से नाच नचाते हैं। कहा भी है – 'कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नर्क दिखावें।' तथा यह भी स्तुति में बोलते हैं कि – हे प्रभो! मैंने इनका कुछ भी बिगाड नहीं किया, फिर भी इन कर्मों ने बिना कारण बहुविध वैर लिया है। ये कर्म ही तो जीवों को चौरासी लाख योनियों को भटकाते हैं। यद्यपि नरक और निगोद हमें इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देते; परन्तु लट, केंचुआ, चींटी-चींटें, मक्खी-मच्छर, पशु, पक्षी आदि और मगरमच्छ, मछलियाँ आदि असंख्य अनन्त जीवों को तड़फते-छटपटाते, भयभीत हो इधर-उधर भागते-दौड़ते तो हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं – ये कर्मों के फल को ही तो भोग रहे हैं, कर्मों के आधीन ही तो हैं; फिर जन-जन व कण-कण की स्वतंत्रता कैसे संभव है?''

स्वतंत्रकुमार ने निवेदन किया – ''इस समय आप मेरी समधिन नहीं, बल्कि गुरु हैं। यह तो मेरा परम सौभाग्य है कि आप जैसी विदुषी से सम्बन्ध जुडने का मुझे सुअवसर मिला और जब से आप की बेटी ज्योत्स्ना जैसी बहू के पग मेरे घर में पडे, तब से घर का वातावरण ही

बदल गया। हमारा तो जीवन ही सफल हो गया। मैंने आपका प्रवचन बहुत ध्यान से सुना है, बहुत आनन्द आया; परन्तु कुछ प्रश्न मेरे मन में उठे हैं; यदि अभी असुविधा न हो तो ..... अन्यथा जब आपको अनुकूलता हो, मैं तभी हाजिर हो जाऊँगा।"

समताश्री ने कहा – "स्वतंत्रजी ! ऐसी कोई बात नहीं, आप आये और मेरी बातों को ध्यान से सुना, इसके लिए आपको बहुत-बहुत साधुवाद ! इस काम के लिए कभी कोई असुविधा की बात नहीं है, सदैव सुविधा ही सुविधा है। आप जब पूछना चाहें, पूछें। मैं अपनी योग्यता के अनुसार आपकी शंकाओं का समाधान करने का प्रयास करूँगी।

गणतंत्र और ज्योति भी आये हैं। आप सबका बहुत-बहुत स्वागत है। मैं चाहती थी कि ज्योति को घर-वर धर्म प्रेमी मिलें। मेरी भावना पूरी हुई – यह देखकर मुझे बहुत हर्ष है। एतदर्थ आपको पुनः पुनः साधुवाद!"

स्वतंत्रकुमार ने पुनः पूछा – " जगत में छोटे से छोटा और बड़े से बडा कोई भी काम जब बिना कारण के तो होता ही नहीं, जो भी कार्य होता है, उसका कोई न कोई कारण तो होता ही है। जब यह अकाट्य नियम है तो फिर यह क्यों कहा गया है कि – 'परमाणु-परमाणु का परिणमन स्वतंत्र हैं, स्व-संचालित हैं, कोई भी किसी कार्य का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। क्या यह बात परस्पर विरोधी नहीं है?"

समताश्री ने बताया – "यद्यपि जगत में छोटे से छोटा और बड़े से बडा – कोई भी काम बिना कारण के नहीं होता। जब भी जो कार्य होता है तो कार्य के पूर्व और कार्य के समय कोई न कोई कारण तो होता ही है – यह बात तो निर्विवाद है; परन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि – उन कारण-कार्य सम्बन्धों को मिलने-मिलाने की जिम्मेदारी किसी व्यक्ति विशेष की नहीं है। जब कार्य होता है, तब कार्य के अनुकूल सभी कारण स्वतः अपने आप ही मिलते हैं। चाहे वे काम अकृत्रिम हों, प्राकृतिक हों

या कृत्रिम अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा किए गये हों। जैसे – पत्थर प्राकृतिक है और उसमें उकेरी गई, गढ़ी गई प्रतिमा कृत्रिम है, हीरा प्राकृतिक है और हीरे का हार कृत्रिम है। परन्तु पत्थर और प्रतिमा तथा हीरा और हार – ये दोनों ही कार्य हैं, अतः उनके कारण भी नियम से हैं ही।

वह प्रतिमा और हार हमारी स्थूल दृष्टि में कृत्रिम हैं और पत्थर एवं हीरा अकृत्रिम नजर आते हैं; परन्तु उनके कारण-कार्य की सूक्ष्म दृष्टि से शोध-खोज करने पर हमें ज्ञात होगा कि उन सभी के एक नहीं पाँच-पाँच कारण दावेदार हैं। उदाहरणार्थ देखें – पत्थर को प्रतिमा बनने के संबंध में १. पत्थर का **स्वभाव** कहता है कि 'यदि मैं नहीं होता तो प्रतिमा का अस्तित्व ही नहीं होता। अतः असली कारण तो मैं ही हूँ २. **पुरुषार्थ** कहता – यदि मैं प्रतिमा बनाने की प्रक्रिया सम्पन्न नहीं करता तो प्रतिमा बनती कैसे? ३. **होनहार** का दावा है कि प्रतिमा बननें की होनहार या भवितव्य ही न होती तो प्रतिमा बन ही नहीं सकती थी। ४. **काललब्धि** कहती है – जब प्रतिमा बनने का समय आयेगा तभी तो बनेगी, तुम लोगों की जल्दबाजी करने से क्या होता? ५. **निमित्त** (कारीगर) कहता है मैं जब छैनी चलाऊँगा, तभी बनेगी न। कोई जादूगर का खेल तो है नहीं जो जादू से हथेली पर आम उगाने की भाँति बना दे।

पाँचों कारण अपना-अपना कर्तृत्व बताकर अहंकार करते हैं; पर ज्ञानी कहते हैं कि – यद्यपि कारणों के बिना कार्य नहीं होता परन्तु जब काम उपादान में अपनी तत्समय की योग्यता से होना होता है, तभी होता है और पाँचों कारण अपनी योग्यतानुसार तब मिलते ही मिलते हैंऔर जब उपादान की तत्समय की योग्यता से कार्य रूप परिणमित नहीं हो तो एक भी कारण नहीं मिलता। अत· किसी को भी अभिमान करने की कोई गुंजाइश नहीं है। पत्थर की द्रव्य-गुण-पर्यायें पूर्ण स्वतंत्र है। उनमें अन्य द्रव्यों का अत्यन्ताभाव है। लोक की वस्तु व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं

(द्रव्यों) का न तो सामान्य अंश उपादान कारण होता है और न विशेष अंश, अपितु सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य ही उपादान कारण होता है। इसके मूलतः दो भेद हैं,१. त्रैकालिक उपादान २. तात्कालिक उपादान। तात्कालिक उपादान के दो भेद हैं, १. अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय २. तत्समय की योग्यता, तत्समय की योग्यता ही कार्य का असली कारण है।

अष्ट सहस्त्री ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य विद्यानंद ने इसी भाव को ध्यान में रखकर उपादान कारण को इस प्रकार परिभाषित किया है कि – "जो पर्याय विशिष्ट द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को छोड़ता हुआ भी नहीं छोड़ता है और पूर्व रूप से अपूर्व रूप में वर्तन करता है, वह उपादान है।"[1]

उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि – द्रव्य (वस्तु) का केवल सामान्य अंश व केवल विशेष अंश उपादान कारण नहीं होता, बल्कि दोनों अंशों से सहित द्रव्य (वस्तु) ही कार्य का उपादान कारण है।

"द्रव्य सत्स्वभावी है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। ध्रौव्य द्रव्य शक्ति है और उत्पाद-व्यय पर्यायशक्ति है।[2]

द्रव्यशक्ति के अनुसार कार्य का नियामक कारण त्रिकाली उपादान है अतः इस अपेक्षा से सत्कार्यवाद का सिद्धान्त सही है; किन्तु केवल द्रव्यशक्ति के अनुसार कार्योत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है। इस कारण वह कार्य का नियामक कारण नहीं है। तत्समय की योग्यतारूप पर्याय शक्ति ही कार्य का नियामक कारण है और वही पर्याय का कार्य है।

इस प्रकार वास्तविक कारण-कार्य सम्बन्ध एक ही द्रव्य की एक ही वर्तमान पर्याय में घटित होते हैं, उसी समय संयोग रूप जो उस कार्य के अनुकूल परद्रव्य होते हैं, उन्हें उपचार से निमित्त कारण कहा जाता है।

१.अष्ट सहस्त्री कालिका ५८ की टीका.   २.प्रमय कमल मार्तण्ड पृष्ठ - १८७

इस कारण उक्त पाँचों कारणों के रहते हुए भी वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त निर्बाध है।''

स्वतंत्रकुमार ने पूछा – ''उपादान कारणों में जो तत्समय की योग्यता रूप कारण की बात तो ठीक है; परन्तु निमित्त कारणों में जो प्रेरक निमित्तों की बात कही जाती है, क्या उनके कारण भी कार्य प्रभवित नहीं होता?

समताश्री ने बताया – ''निमित्त कारण अपने से भिन्न उपादान के परिणमन में सहकारी अर्थात् सहचारी होने पर भी उसका किंचित्मात्र भी कर्ता नहीं है। उपादान कारण पूर्ण स्वतंत्र स्वाधीन व स्वशक्ति सामर्थ्य से युक्त है; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करने में पूर्णतः असमर्थ है। वस्तुत· उपादानकारण परिणमन शक्ति से रहित है वह कर्ता कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।[१]

एक कार्य के दो कर्त्ता कदापि नहीं हो सकते तथा एक द्रव्य युगपद-एककाल में दो कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वतंत्ररूप से स्वयं ही करता है। स्वयं अपनी शक्ति से परिणमित होती हुई वस्तु में अन्य के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।[२]

इस आधार से हम कह सकते है कि – यदि उपादान कारण में स्वयं योग्यता न हो तो निमित्त उसे परिणमित नहीं करा सकता। विश्व की समस्त वस्तुएँ (द्रव्य) अपनी-अपनी ध्रुव व क्षणिक योग्यतारूप उपादान सामर्थ्य से भरपूर हैं। कहा भी है –

कालादि लब्धियों से तथा नाना शक्तियों से युक्त द्रव्यों (वस्तुओं) को स्वयं परिणमन करने में कौन रोक सकता है?[३]

कार्य की उत्पत्ति के समय तदनुकूल निमित्त उपस्थित अवश्य रहेंगे किन्तु वे स्वयं शक्ति सम्पन्न उपादान को कार्यरूप परिणमित नहीं कराते।[४]

१. पचास्तिकाय गाथा १९ एवं गाथा ५४ २ समयसार कलश – ५१ एवं ५४
३. समयसारगाथा ११६-१२० की टीका ४.कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९

अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य करने में पूर्णतः असमर्थ हैं, अकर्ता हैं। यही वस्तु की स्वतंत्रता है। स्वतंत्र वस्तु व्यवस्था में पर का किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

गणतंत्र ने पूछा – "निमित्तों को कर्त्ता मानने से क्या-क्या हानियाँ हैं?"

उत्तर – "१. निमित्तों को कर्त्ता मानने से उनके प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है।

२. यदि धर्मद्रव्य को गति का कर्त्ता माना जायेगा तो निष्क्रिय आकाशद्रव्य को भी गमन का प्रसंग प्राप्त होगा, जो कि वस्तुस्वरूप के विरुद्ध है।

३. यदि गुरु के उपदेश से तत्त्वज्ञान होना माने तो अभव्यों को भी सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति मानने का प्रसंग प्राप्त होगा।

४. निमित्तों को कर्त्ता मानने से सबसे बड़ी हानि यह है कि – अनादि निधन वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा में परिणमित होती हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती।[१] इस प्रकार वस्तुस्वातंत्र्य के मूल सिद्धान्त का हनन हो जायेगा।

ऐसे अनेक आगम प्रमाण हैं, जिनसे निमित्तों का अकर्तृत्व सिद्ध होता है?

१. तीर्थंकर ऋषभदेव जैसे समर्थ निमित्त की उपस्थिति से भी मारीचि के भव में उपादान की योग्यता न होने से भगवान महावीर के जीव का कल्याण नहीं हुआ तथा महावीर स्वामी के दस भव पूर्व जब सिंह की पर्याय में उनके उपादान में सम्यग्दर्शन रूप कार्य होने की योग्यता आ गई तो निमित्त तो बिना बुलाये आकाश से उतर आये।

१.मोक्षमार्गप्रकाशक तृतीय अध्ययन, पृष्ठ ५२

२. तीर्थंकर भगवान महावीर जैसे समर्थ निमित्त के होते हुए मंखलि गोसाल का कल्याण नहीं होना था सो ६२ दिन तक भगवान महावीर की दिव्यध्वनि की प्रतीक्षा करने के बावजूद भी जब दिव्यध्वनि खिरने का काल आया तब वह क्रोधित होकर वहाँ से चला गया।

३. नरकों में वेदना व जातिस्मरण को भी सम्यग्दर्शन का निमित्त कह दिया है। इससे सिद्ध होता है कि निमित्त कर्त्ता नहीं है; क्योंकि वेदना तो सबको होती है, फिर सम्यग्दर्शन सबको क्यों नहीं होता?

४. केवली का पादमूल तो बहुतों को मिला, पर सबको क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हुआ।

५. शील के प्रभाव से यदि अग्नि का जल हो जाने का नियम हो तो पाण्डवों के शील की क्या कमी थी ? उनके तो अठारह हजार प्रकार का शील था। फिर भी वे क्यों जल गये ? उनके हाथ-पैरों में पहनाये गये दहकते लोहे के कड़े ठंडे क्यों नहीं हुए ?''

स्वतंत्रजी ने पूछा – ''निमित्तों में कर्त्तापने के भ्रम होने के क्या-क्या कारण हैं ?''

समताश्री ने कहा – ''भ्रम उत्पन्न होने का मूल कारण तो कर्त्ता-कर्म संबंधी भूल ही है। इसके अतिरिक्त – १. निमित्त कारणों का कार्य के अनुकूल होना, २. निमित्तों की अनिवार्य उपस्थिति, ३. निमित्तों का कार्य के सन्निकट होना, ४. आगम में निमित्त प्रधान कथनों की बहुलता, ५. निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की घनिष्ठता, ६. कृतज्ञता ज्ञापन की प्रवृत्ति, ७. प्रेरक निमित्तों की अहंभावना, ८. अनादिकालीन परपदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि आदि भी भ्रम उत्पन्न करते हैं, ९. जो निमित्त उपादान के पूर्वचर, उत्तरचर एवं सहचर होते हैं, उन निमित्तों में भी सहज ही कर्त्तापन का भ्रम हो जाता है।''

ज्योत्स्ना ने पूछा – ''निमित्तों में कर्त्तापन के भ्रम को मेटने का मुख्य उपाय क्या है ?''

समताश्री ने कहा – "भ्रम से उत्पन्न हुई परपदार्थों में कर्तृत्वबुद्धि को मेटने का उपाय भ्रम को दूर करना ही है। जो जिनागम में प्रतिपादित निमित्तों के अकर्तृत्व के सिद्धान्त को भली-भाँति समझने एवं उसमें श्रद्धावान होने से ही दूर हो सकता है। एतदर्थ जिनागम का अध्ययन-मनन-चिंतन करना आवश्यक है।

जिनागम में चारों अनुयोगों में इसप्रकार के उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनसे निमित्तों का अकर्तृत्व सिद्ध होता है और यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि – परद्रव्यरूप निमित्त आत्मद्रव्य के परिणमनरूप कार्य में सर्वथा अकर्त्ता हैं। वे आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि में कुछ भी सहयोग-असहयोग नहीं कर सकते।

जिन्होंने अपने विवेक से मन-मस्तिष्क को खुला रखकर आगम चक्षुओं से वस्तुस्वरूप को निरखा-परखा है, वे उपर्युक्त भ्रमोत्पादक कारणों के विद्यमान रहते हुए भी भ्रमित नहीं होते। उन्हें शीघ्र सन्मार्ग मिल जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र प्रवचनसार गाथा ८७ की टीका में लिखते हैं कि 'जीव के किए हुए रागादि परिणमों का निमित्त पाकर नवीन-नवीन अन्य पुद्‌गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं। जीव इन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता।'[१]

तात्पर्य यह है कि जीव की तत्समय की योग्यता रूप उपादान-कारण से ही कार्य होता है; क्योंकि द्रव्य या पदार्थ स्वयं परिणमनस्वभावी हैं। उन्हें अपने परिणमन में परद्रव्यरूप निमित्तों की अपेक्षा नहीं होती।"

इस प्रकार प्रवचनोपरांत स्वतंत्रकुमार, गणतंत्रकुमार और ज्योत्स्ना के शंका-समाधान के साथ सभा विसृजित हुई।

●

१ पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय, श्लोक : ११-१२

८

बहू हो तो ऐसी

एक ही व्यक्ति के दो नाम रखने की बहुत पुरानी परम्परा है। पहले सुना करते थे कि अमुक व्यक्ति का राशि का नाम सन्मति है और चालू नाम सन्तु है। बाद में कहने लगे कि स्कूल का नाम महावीर है और घर का नाम वीरू है। अनेक तीर्थंकरों के नाम भी तो एक से अधिक हैं। इसी परम्परागत रीति-रिवाज के अनुसार ज्योत्स्ना को घर में प्यार से ज्योति कहते जरूर थे; परन्तु वह दीपक की ज्योति की भाँति कलह का काजल और अशान्ति की आग उगलने वाली ज्योति नहीं, बल्कि वह तो चाँद की परछाई ज्योत्स्ना की ज्योति है, जो सुखद-शीतल और प्रशम प्रकाश प्रदान करती है।

माँ के संस्कार ज्योति के रोम-रोम में समाये हुए हैं। अपने परिवार के साथ सु-समायोजित (एडजेस्टमेंट) करके सुख-शान्ति और सम्मान के साथ कैसे रहा जाता है ? – यदि यह महामंत्र किसी को सीखना हो तो उसे ज्योत्स्ना जैसी पारिवारिक महिला के चरित्र से सीखना होगा।

ज्योत्स्ना ने ससुराल में आकर अपनी ज्योत्स्ना जैसी शीतलता और संताप रहित आलोक से सबको शान्त एवं आलोकित कर अपने ज्योत्स्ना नाम को सार्थक कर दिखाया। उसने 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' कहावत को झुठला दिया। इसके बदले लोग यह कहने लगे कि – "वाह ! ज्योत्स्ना के बारे में जैसा सुना था, उसे वैसा ही पाया। बहू क्या है ? यह तो यथानाम तथा गुण सम्पन्न कोई देवी है। बहू हो तो ऐसी हो !

मुहल्ले भर में सबसे तेज-तर्रार मानी जाने वाली सास भी जिसकी प्रशंसा करते-करते थकती नहीं है, जिसका गुणगान करते-करते श्वसुर का गला भर आता है। उस बहू की जब वे अडौसी-पड़ौसियों से प्रशंसा

सुनते हैं तो वे मुस्कुराते हुए बड़े गौरव से कहते हैं – 'आखिर बहू किसकी है ?' पड़ौसी भी कहते हैं – 'हाँ भाई ! तुम बहुत भाग्यशाली हो, जो तुम्हें ज्योत्स्ना जैसी बहू मिल गई। हमें तो यह चमत्कार-सा लगता है कि शादी के वर्षों बाद भी सास-श्वसुर द्वारा बहू की प्रशंसा के गीत गाये जा रहे हैं। अधिकांश तो सासों को बहुओं के दुखोने रोते ही देखा जाता है। जहाँ दो सासें मिली नहीं कि बहुओं के कारनामों के चर्चे छिड़ जाते हैं और जहाँ दो बहुएँ मिली नहीं कि सासों के अत्याचारों की कहानियाँ सुनने को मिलती हैं।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि **जिसके जिन गुणों की प्रशंसा की जाती है, उसके उन गुणों का विकास तीव्र गति से होने लगता है,** ज्योत्स्ना के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। उसमें कुछ विशेषतायें तो माँ से प्रशंसा पाकर बचपन में ही विकसित हो चुकीं थी, बहुत कुछ बाद में ज्यों-ज्यों उसकी प्रशंसा हुई त्यों-त्यों उसके गुणों में विकास होता गया और अब वह न केवल परिवार में, मुहल्ले में बल्कि पूरे समाज में, नगर में और देश-विदेश में भी प्रशंसा की पात्र बन गई।

× × ×

गणतंत्र और ज्योत्स्ना की जोड़ी कद-काठी, हेल्थ-हाईट और रंग-रूप में पूरे परिवार से बेजोड़ है। ऐसे जोड़े विरले ही होते हैं। वे जहाँ कहीं भी खड़े होते, लोगों की निगाहें बरबस उन पर अटक जाती हैं। उनका बाह्य व्यक्तित्व जैसा आकर्षक है, अन्तरंग में भी वे वैसे ही सुशील, सज्जन और निश्छल हैं। धार्मिक आचरण के प्रति भी उनका अच्छा आकर्षण है।

गणतंत्र की प्रकृति बहुत कम बोलने की है, उसके चेहरे पर ऐसा भोलापन झलकता है कि उससे यह अनुमान नहीं लगता कि इसका स्वभाव क्रोधी भी है। जबकि ज्योत्स्ना का जीवनसाथी बनने के पहले वह बहुत तेज था। उसे बात-बात पर क्रोध आ जाता था। ज्योत्स्ना के

मधुर व्यवहार और शान्त स्वभाव का उस पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह स्वतः ही बहुत कुछ शान्त हो गया। अब उसे बहुत कम क्रोध आता है; परन्तु जब आता है तो वह अति उग्र हो जाता है, बेकाबू हो जाता है।

यद्यपि उसमें प्रतिभा और बुद्धि अपने साथियों की तुलना में किसी से कम नहीं है; परन्तु वह उसका उपयोग पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक चालबाजियों में नहीं करता। उसे खुशामद भी पसन्द नहीं है, इसकारण न वह किसी की खुशामद करता है और न उसे खुशामदी लोग पसंद हैं। वह स्पष्टवादी है; परन्तु बिना प्रयोजन अपनी स्पष्टवादिता का उपयोग भी नहीं करता। इसकारण सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में उसकी विशेष पकड़ नहीं है, फिर भी वह अपने आप में खुश है, संतुष्ट है।

× × ×

ज्योत्स्ना के जीवन पर उसकी माँ की छाप बहुत अधिक है। इसकारण धार्मिक क्षेत्र में वह अधिक सक्रिय रहती है। अपनी मीठी बोली, मधुर व्यवहार और धर्मात्माओं के प्रति निस्वार्थ प्रेम होने से वह धार्मिक क्षेत्र में जनप्रिय भी हो गई।

गणतंत्र अपने रिजर्व नेचर के कारण भले ही ज्योत्स्ना के बराबर जनप्रिय नहीं हो पाया; परन्तु उसमें भी कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जिनका लोग बराबर लोहा मानते हैं। यदि उसके क्रोधी स्वभाव और रिजर्व नेचर को गौण करके देखें तो वह भी बहुत अच्छा इन्सान है। ज्योत्स्ना के सम्पर्क से अब उसका क्रोध तो कम हुआ ही है, तत्त्वरुचि हो जाने से अब वह धार्मिक और नैतिक विकास के कामों में भी सक्रिय हो रहा है।

× × ×

एक पड़ोसिन अम्मा को जिज्ञासा जगी, उसे यह जानने की उत्सुकता हुई कि देखें तो सही – ज्योत्स्ना ने सासू माँ पर ऐसा क्या जादू कर दिया है कि इतनी तेज-तर्रार सास पानी-पानी हो गई ? आखिर ज्वालाबाई शान्तिबाई कैसे बन गई ? और दस वर्ष से बहू के साथ उसकी एक ही

चौके में कैसे निभ रही है ?'' यह साधारण बात नहीं है। यद्यपि पतियों को पलट लेना बहुत कठिन नहीं है; किन्तु क्रोधी पति को पलट लेना आसान भी नहीं है। साथ ही सास-श्वसुर को काबू में करना तो लोहे के चने चबाने जैसा है। इसलिए ज्योत्स्ना तारीफ के काबिल तो है ही।

एक दिन उस पड़ोसिन अम्मा ने प्यार से ज्योत्स्ना के सिर पर हाथ फेरते हुए उससे पूछा – ''बेटी ! यदि बुरा न माने तो एक बात पूछूँ ?''

ज्योत्स्ना ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा – ''अम्मा ! कैसी बातें करती हो ? इसमें बुरा मानने की क्या बात है। तुम ऐसी कौन-सी बुरी बात कहने जा रही हो, जिसका बुरा माना जाय ? तुम कोई ज्ञान की बात पूछ कर अपनी जिज्ञासा ही तो शान्त कर रही हो। यदि बुरी लगनेवाली बात कहोगी तो उसका भी मेरे पास उपाय है।'

पड़ोसिन अम्मा ने पूछा – ''वह कौन-सा उपाय है जिससे बुरी बात का भी तू बुरा नहीं मानती ?''

ज्योत्स्ना ने कहा – ''अरे ! अम्मा ! जो भली बात होती है, मैं उसे ही अपनाती हूँ, जो बात मुझे ठीक नहीं लगती, मैं उस पर ध्यान नहीं देती। मैं सोच लेती हूँ कि जो बात कान में पड़ते ही दिमाग खराब करती है, उसे अपनाकर क्या करूँगी ? और अपने दो कान किसलिए हैं ? इसीलिए न कि बुरी बात को इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो। उसे गले से निगलो ही मत। निगलने से ही तो पेट में दर्द की संभावना बनती है। इसलिए मैं तो हमेशा यही करती हूँ कि बुरी बात इस कान से सुनी और उस कान से निकाल दी। इसी कारण कुछ भी/कैसी भी बातें सुनने से मेरे पेट में दर्द नहीं होता।''

ज्योति ने आगे कहा – ''जब मैं ऐसा करती हूँ तो दूसरी बार बुरी बात कहने की कोई सोचता ही नहीं है और हाँ, मैं ऐसा करके उससे अपना बोलचाल एवं व्यवहार पूर्ववत् ही चालू रखती हूँ। अपने व्यवहार में फर्क नहीं लाती।''

इसप्रकार ज्योत्स्ना ने अपनी नीति बड़े प्यार से पड़ोसिन अम्मा को समझा दी।

अम्मा ने कहा – "यह तो अति उत्तम है। यह प्रयोग मैं भी करूँगी, परन्तु मैं तो यह सोच-सोच कर हैरान थी कि जिसका पति ऐसा क्रोधी हो जो बात-बात पर इतना आग-बबूला हो जाता हो कि जो कोई भी उसे छुए तो वह जल ही जायेगा। जिसकी सास इतनी तेज-तर्रार हो, वह बहू कितनी भी सुशील व सज्जन क्यों न हो, कैसे सहती होगी इनके ऐसे अत्याचार ? सहनशीलता की भी तो कोई हद होती है। मैं यह सब सोचकर कौतूहलवश यह जानने को यहाँ आई थी; पर यहाँ आकर देखा तो यहाँ तो सचमुच सब उलट-पलट ही हो गया। गजब हो गया ! बहू ! तूने ऐसा क्या जादू कर दिया ? इसकी विशेष जानकारी तो तेरे निकट सम्पर्क में रहने से ही मिल सकेगी; परन्तु यदि यह सफल नुस्खा मेरे हाथ लग जाय तो मैं तो इसे हर कीमत पर सारी दुनियाँ में फैला देना चाहती हूँ; क्योंकि दुनिया सास-बहुओं की कसमकस से परेशान है। फिर 'सास भी कभी बहू थी' जैसे टी. वी. सीरियलों की कोई जरुरत ही नहीं रहेगी। घर-घर की रोने-धोने की कहानियाँ भी विश्व के नक्शे से नदारद हो जायेंगी। इससे बढ़कर परोपकार का, पुण्य का अन्य कोई काम नहीं हो सकता। बहुएँ तो बेचारी दुःखी हैं ही, सासें भी कम परेशान नहीं हैं। मैं चाहती हूँ इसका कोई सरल-सा उपाय मिले। मुझे विश्वास है कि यह काम हम-तुम मिलकर कर सकते हैं। अतः तू मुझे वह महामंत्र बता, जिस महामंत्र से तूने अपनी सासू माँ का दिल जीता है, उसे ज्वालाबाई से शान्तिबाई बना दिया है और गणतंत्र जैसे ज्वालामुखी को हिमालय जैसा शीतल एवं गंगा जैसा कल-कल नाद करनेवाला मधुरभाषी बना दिया है। उस महामंत्र को मैं सारे विश्व में फैला कर सबके मनस्ताप को शान्त करूँगी – ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। पैसे की मुझे परवाह नहीं है। इस काम के लिए मेरे पास पर्याप्त पैसा है; बल्कि मुझे तो पैसा खर्च करने की समस्या है कि कहाँ खर्च करूँ ?

वैसे पैसा माँगनेवालों की भी कमी नहीं है। आये दिन नवनिर्माणों के लिए चन्दा-चिट्ठा माँगनेवाले लाईन लगा कर खड़े रहते हैं; परन्तु मैं अपनी न्याय-नीति की गाढ़ी कमाई को संसारी जीवों के मानसिक दुःखों को स्थाईरूप से दूर करने में ही लगाना चाहती हूँ। ज्योत्स्ना ! यह काम मात्र तेरे सहयोग से ही संभव है – ऐसा मुझे विश्वास हो गया है।

जब से तू ब्याह कर हमारे पड़ोस में आई है, तभी से मैं बराबर देख रही हूँ कि तेरे शान्त स्वभाव और मधुर व्यवहार की शीतल धारा से गणतंत्र जैसा क्रोधी धीरे-धीरे शान्त हो रहा है और सासू माँ में तो आमूलचूल परिवर्तन हो ही गया है। यह काम किसी जादू से कम चमत्कारिक नहीं है।

वैसे मैं बहुत देर से प्रभावित होती हूँ, इसकारण बहुत कम लोगों की तारीफ करती हूँ। अधिकतर तो मुझे भी अभी तक इसी में मजा आता रहा कि – 'दोनों पलीतों दे दो तैल, तुम नाचो हम देखें खेल।' परन्तु एक दिन अनायास मैं एक सहेली के साथ तेरी माँ समताश्री के प्रवचन में पहुँच गई। संयोग से उस दिन रौद्र ध्यान की चर्चा चल रही थी। उन्होंने कहा – 'सच्ची-झूठी चुगलखोरी करके परस्पर में दो व्यक्तियों को मेढों और मुर्गों की तरह लड़ा-भिड़ाकर उसमें आनन्द लेना रौद्रध्यान है, जिसका फल नरक है।' तभी से मैंने कसम खाली कि अब मैं आगे से तो ऐसा काम करूँगी ही नहीं, अबतक किए गये इस रौद्रध्यान के प्रायश्चित्त स्वरूप मैं कुछ ऐसा करूँगी, जिसके फल में सब जीव सुखी रह सकें। कोई परस्पर में कलह न करें, लड़ें-भिड़ें नहीं और दूसरों को लड़ाकर आनन्द न मानें।"

बहुत देर से मौन साधे ध्यान से पड़ोसिन की बात सुनते हुए मौनभंग करके ज्योत्स्ना ने पूछा – "अम्माजी यह पलीतोंवाली कहावत जो आपने कही, उसमें पलीतों का क्या अर्थ है और यह किस प्रयोजन से, कैसे प्रचलित हुई है।"

अम्मा ने कहा – "अरे बहू ! तू क्या जाने इन दन्द-फन्दों को ? यह तो **कलयुग का सबसे बड़ा पड़ोसी** धर्म है। यदि दो पड़ोसनें प्रेम से रहती हों या सास-बहुएँ प्रेम से रहती हों तो उनके प्रेम से रहने में कलहप्रिय व्यक्तियों को मजा नहीं आता। अत: वे इधर की गुप्त बातें उधर, उधर की गुप्त बातें इधर कहकर उन्हें आपस में लड़ा-भिड़ा देते हैं, जब वे जाँघें ठोककर लड़ने लगते हैं तो दाँतों में रूमाल दबा कर हँसते हैं और मजा लेते हैं। ऐसे लोगों के लिए यह कहावत चल पड़ी। इसका मूल स्रोत बुन्देलखण्डी लोकनृत्य है, जिसे गॉव की भाषा में राई कहते हैं। उस लोकनृत्य में प्रकाश के लिए मसालची के हाथों में जो मशालें होती हैं, उन्हें ही पलीता कहते हैं। उन पलीतों में तेल डालकर रोशनी करते हैं, नर्तक-नर्तकियों को होड़ लगाकर रातभर नचा-नचाकर मजा लेते हैं, भले वे नाचते-नाचते थककर चकनाचूर हो जाँय, बेहोश होकर गिर पड़ें, दर्शकों को इसकी कुछ भी परवाह नहीं होती। वे तो नशे में मस्त होकर स्वयं झूमते हैं और पैसों से प्रोत्साहित कर-करके उन्हें नचाते हैं।

इसीतरह कलहप्रिय पड़ोसी-पड़ोसिनें दूसरों को लड़ा-भिड़ाकर मजा लेते हैं। मैं उस गंदे वातावरण को आमूलचूल बदलना चाहती हूँ। मुझे इस काम में तेरे सहयोग की जरूरत है। यही समस्या मैंने एक जन्तर-मन्तर जानने वाले बाबा के पास रखी भी थी तो उसने मुझे पाँच हजार रुपये में तीन ताबीज दिए थे और तीन माह तक दोनों बाजुओं में बाँधने और गले में पहनने को कहा था; तीन माह की जगह छः माह हो गये; पर उनसे अबतक तो कुछ हुआ नहीं।"

ज्योत्स्ना ने कहा – "अम्मा ! आप ऐसे-वैसे बाबाओं की बातों में न आया करो! ये सब बुद्धू बनाने की बातें हैं। ऐसे कोई यंत्र-मंत्र-तंत्र नहीं होते। अम्मा ! आप मेरी दादी की उम्र की तो होंगी ? आप अभी भी ऐसे चक्करों में पड़ जाती हो। खैर ! एक दिन आप मेरी माँ के प्रवचन में पुन: चलना। वे कुछ ऐसी ज्ञान की बातें बता देंगी, जिससे आपकी सब

परेशानियाँ दूर हो जायेंगी और आपको विश्वकल्याण अर्थात् जनहित करने और आत्मकल्याण करने की सही विधि मिल जायेगी।"

अम्मा ने स्वीकार किया – "बेटी! तू ठीक कहती है, मैंने तेरी माँ का एक प्रवचन सुना था, उससे भी मुझे बहुत शान्ति मिली थी। मैं जरूर चलूँगी।"

माँ समताश्री के प्रवचन में आज ज्योत्स्ना की पड़ोसिन अम्मा भी आई और अग्रिम पंक्ति में बैठी, ताकि ध्यान से सुन सके। ज्योत्स्ना ने प्रवचन प्रारंभ होने के पहले ही माँ को उस पड़ौसिन अम्मा की समस्या से अवगत करा दिया था। अतः समताश्री ने क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञता के द्वारा वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की सिद्धि से ये आर्त-रौद्र के परिणामों की दिशा स्वयं कैसे बदल जाती है तथा स्व-पर कल्याण कैसे संभव है ? यह विषय सरल भाषा में विस्तार से समझाने का निश्चय किया और बीच-बीच में अम्मा को संबोधते हुए उन्होंने कहा – किसी को भी मानसिक दुःख न हो, सभी सद्भाव से रहें। कोई किसी को लड़ाये-भिड़ाये नहीं। इसके लिए हमें भगवान की सर्वज्ञता के आधार पर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझना होगा। "देखो अम्माजी ! मैं पहले किसी धर्म विशेष की बात न कहकर सर्वसम्मत बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहती हूँ। पहली बात तो यह है कि विश्व में ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो किसी न किसी रूप में भगवान को नहीं मानता हो और दूसरी बात यह कि जो भगवान को मानता है, वह उसे सर्वज्ञ भी मानता ही है। तीसरी बात सर्व शक्तिवान भगवान सर्वज्ञ हमारे-तुम्हारे-सबके भविष्य को भी जानते ही हैं। चौथी बात – वह सर्वज्ञ विश्व में जिस द्रव्य में जो होनेवाला है, उसे ही जानेंगे! अनहोनी तो जानेंगे ही नहीं।

इन सब बातों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जब जो होना है, वही होता है तो हम भला-बुरा करने के भाव करके व्यर्थ में पुण्य-पाप के चक्कर में क्यों पड़ें। जो सर्वज्ञ के जाने गये अनुसार होना है, उसमें हमारा क्या स्थान है ? बस हमें इतना जानना भर है। यदि न जानो तो यह भी

मत जानो, होने वाले काम को आपके जानने की भी अपेक्षा नहीं है, वह तो अपने स्वकाल में अपनी तत्समय की योग्यता से होगा ही। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं पूर्ण वीतरागी भगवान के प्रति आस्थावान हैं, उन्हें अपना आराध्य देव मानते हैं तो आपको अज्ञानजनित पर के कर्तृत्व के भार से आज ही निर्भार हो जाना चाहिए। अन्यथा हम यह समझेंगे कि आप भगवान को ही नहीं मानते।

भगवान की दिव्यध्वनि में आया है कि – 'छह द्रव्यों के समूह का नाम विश्व है, द्रव्य को ही वस्तुत्व गुण के कारण वस्तु कहते हैं। यह सम्पूर्ण द्रव्य या वस्तुयें पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलंबी हैं, यद्यपि इनके प्रतिसमय होनेवाले परिणमन में अन्य द्रव्यों का निकटतम कारण-कार्य सम्बन्ध है; परन्तु परद्रव्यों के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं। अतः हमें-तुम्हें पर में कहीं कुछ भी परिवर्तन नहीं करना है।

ऐसी यथार्थ श्रद्धा से हम निश्चिंत एवं पर के कर्तृत्व के भार से निर्भार हो जाते हैं और हमारा उपयोग सहज में ही दन्द-फन्द से हटकर अन्तर्मुख होने लगता है। इस उपयोग की अंतर्मुख होने की प्रक्रिया को ही ध्यान कहते हैं। धीरे-धीरे उपयोग की अन्तर्मुखता का अर्थात् ध्यान का समय बढ़ता जाता है और एक समय यह आ जाता है कि लगातार अन्तर्मुहूर्त तक उपयोग स्वरूप में स्थिर होने पर केवलज्ञान प्रगट होकर यह आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है।'

वस्तुव्यवस्था के इस नियम को ही क्रमबद्धपर्याय कहते हैं। इसी क्रमबद्धपर्याय से वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है। क्रमबद्धपर्याय का मूल आधार सर्वज्ञता है और सर्वज्ञता की स्वीकृति के बिना तो भगवान का अस्तित्व ही नहीं टिकता।

अम्मा ने इस गंभीर और सारभूत प्रवचन को सुना तो बहुत ध्यान से; परन्तु रेगिस्तान की बरसात की भाँति उसकी भावभूमि फिर भी प्यासी रह गई। आज का समय समाप्त हो गया, अतः शेष बात कल पर छोड़नी पड़ी

●

९

अच्छी पड़ोसिनें भी पुण्य से मिलती हैं

पड़ोसिन अम्मा के मुख से 'कलयुगी पड़ोसी धर्म' की बात सुनकर ज्योत्स्ना अचम्भे में पड़ गई। क्या ऐसा भी होता है पड़ोसिनों का व्यवहार ? यदि ऐसी बात है तब तो पड़ोसिनों के साथ भी सोच-समझकर ही व्यवहार करना पड़ेगा और उनसे सावधान भी रहना पड़ेगा, अन्यथा ये तो हमारे घर को भी पलीता दिखा देंगी और हमारे परिवार को नचाकर स्वयं तमाशा देखेंगी।

बहत्तर वर्षीय पड़ोसिन अम्मा शुद्ध-सात्त्विक आहार, विहार और नियमित दिनचर्या पालन करने से अभी भी पूर्ण स्वस्थ हैं। अभी अम्मा की पाँचों इन्द्रियाँ काम करती हैं। उसकी स्मरण शक्ति भी अच्छी है। वह नियमितरूप से प्रात: ५ बजे जागकर वैराग्य वर्द्धक बारह भावनायें, भजन और स्तुतियों का पाठ करती है। नौकर-चाकर होते हुए भी वह यथासंभव अपने नित्यकर्म के सभी काम स्वयं ही करती है।

उसका इकलौता बेटा माँ के प्रति प्रेम, श्रद्धा और भक्ति की पवित्र भावना से काम करने से बहुत मना करता है और आराम करने का आग्रह करता है; इस उम्र में माँ काम करे, यह उसे अच्छा नहीं लगता, उसका वश चले तो वह माँ को पलंग से नीचे पग न रखने दे; .....परन्तु अम्मा का कहना यह है कि बेटा ! बुढ़ापे में हड्डियाँ हिलती-डुलती रहें तो ठीक रहती हैं, अन्यथा वे जाम हो जाती हैं, जकड़ जाती हैं, अकड जाती हैं, इसलिए मैं तो अपनी उम्र की बहिनों को भी यही सलाह देती हूँ और मैं स्वयं भी काम के बहाने हाथ-पैर पसार लेती हूँ तथा नौकरों के भरोसे भी हमेशा पूरी तरह नहीं रहना चाहती, क्योंकि नौकर भी कभी-कभी हमारी कमजोरी और मजबूरी देखकर परेशान करने लगते हैं, नौकरों के नखरे भी तो कम नहीं होते।'

× × ×

अम्मा के पास प्रतिदिन प्रवचन में पहुँचने का साधन तो नहीं है; फिर भी वह घर पर ही कुछ न कुछ स्वाध्याय करके ही भोजन करती है। समय-समय पर निष्पक्षभाव से साधु-संतों और सभी विद्वानों के प्रवचन भी सुनती है, परन्तु अध्यात्म की गहरी पकड़ न होने से स्वाध्याय का फल जो निराकुल सुख-शान्ति है, उससे वह वंचित है।

ज्योत्स्ना के पड़ोस में आ जाने से तो मानो उसके भाग्य ही खुल गये। अच्छी पड़ोसिनें भी पुण्य से ही मिलती हैं। अब वह अम्मा ज्योत्स्ना के साथ प्रतिदिन प्रवचन में जाने लगी। यद्यपि वह प्रवचनों को खूब ध्यान से सुनती और जो बात समझ में नहीं आती, उसे तत्काल नोट भी कर लेती और प्रवचन के बाद जैसे भी मौका मिलता समताश्री से समाधान भी करा लेती।

अम्मा के हित में एक अच्छी बात यह है कि वह किसी व्यक्ति विशेष या पन्थ विशेष की सीमाओं में बंधी नहीं है। किसे सुने, किसे न सुने ? क्या पढ़े, क्या न पढ़े ? – ऐसे संकुचित विचार उसे पसंद नहीं हैं। उसे वीतरागता की पोषक सभी बातों में आनन्द आता है। अतः वह एक बार तो सबको ही सुनती है, फिर अपने विवेक से हेयोपादेय का निर्णय स्वयं करती है। विकथायें करने का अब उसके पास बिलकुल भी समय नहीं है। वह बार-बार कहती है – "मैंने जितने वर्ष जी लिया, अब उतने महीने भी स्व-पर हित के लिए मिलना मुश्किल हैं। अंजुली के पानी की तरह समय निरन्तर अपनी गति से बीत रहा है। अतः मैं अब किसी भी प्रपंच में नहीं पड़ती।"

× × ×

अगले दिन अपने निश्चित समय पर ठीक ८.३० पर प्रवचन प्रारंभ हुआ। समताश्री ने ॐ नमः सिद्धेभ्यः के साथ कल के विषय को आगे बढ़ाते हुए कहा – "हमने कल जो वस्तुस्वातंत्र्य के विषय को क्रमबद्धपर्याय

और सर्वज्ञता के माध्यम से समझा था, उस विषय में अम्माजी क्रमबद्ध-पर्याय का और अधिक स्पष्टीकरण कराना चाहती हैं। विषय तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण है ही तथा और भी अनेक भाई-बहिन नये आये हैं; अत: आज भी सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय को ही समझाने का प्रयत्न करेंगे।

"**सर्वं जानातीति सर्वज्ञः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वज्ञ शब्द का अर्थ है सबको जानने वाला। ''सर्वज्ञ शब्द में जो 'सर्व' शब्द है उसका तात्पर्य त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों से है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ है।

अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में मंगलाचरण करते हुए लिखा है कि – 'वह परम ज्योति (केवलज्ञान) जयवन्त होओ, जिसमें दर्पणतल के समान समस्त पदार्थमालिका प्रतिभासित होती है। जैसे क्षेत्रान्तर में स्थित घटादि पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही क्षेत्रान्तर में स्थित समस्त पदार्थ केवलज्ञान के विषय होते हैं।'

ज्ञान के दो प्रकार हैं – ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। वैसे तो प्रत्येक ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमित होता ही है; किन्तु यदि हम उस ज्ञेयाकार की अपेक्षा को गौण कर ज्ञान को मात्र सामान्यरूप से देखें तो वह ज्ञानाकार प्रतीत होता है। ज्ञेयाकाररूप परिणमन की दृष्टि से देखने पर वही ज्ञान ज्ञेयाकार प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि केवलज्ञान का जो प्रत्येक समय में परिणमन है वह तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयाकाररूप ही होता है। केवलज्ञान तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत जानता है। पण्डित दौलतरामजी ने स्तुति में कहा भी है –

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंद रसलीन

जानना ज्ञान की परिणति है और वह परिणति ज्ञेयाकाररूप होती है, इससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि सर्वज्ञ जानता तो सबको है; पर वह पर को तन्मय होकर नहीं जानता। वे पर को जानते हुए भी निजानंद में ही मग्न

रहते हैं। उदाहरणार्थ एक ऐसे दर्पण को लीजिए जिसमें अग्नि की ज्वाला प्रतिबिम्बित हो रही है। आप देखेंगे कि ज्वाला उष्ण है, परन्तु दर्पणगत प्रतिबिम्ब उष्ण नहीं होता। ठीक यही स्वभाव ज्ञान का है। ज्ञान में ज्ञेय प्रतिभासित तो होते हैं, पर ज्ञान-ज्ञेयों से तन्मय नहीं होता।

स्वामी समन्तभद्र ने केवलज्ञान की इस महिमा को जानकर सर्वज्ञता की सिद्धि करते हुए आप्तमीमांसा में लिखा है –

'परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, राम-रावणादि काल से अन्तरित व्यक्ति और सुमेरु आदि क्षेत्र से दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी पुरुष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं; क्योंकि वे अनुमान के विषय हैं। जो अनुमान के विषय होते हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष भी अवश्य होते हैं।'

सर्वज्ञ को त्रिकालज्ञ सिद्ध करते हुए प्रवचनसार गाथा ३९ में कहा है कि 'यदि वह केवलज्ञान त्रिकालज्ञ न हो तो उसे दिव्य कौन कहेगा ?[१]'

सर्वज्ञता से क्रमबद्ध पर्याय का अत्यन्त घना सम्बन्ध है अतः सर्वज्ञ का स्वरूप जान लेने पर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझना सरल हो जाता है; इसलिए पहले सर्वज्ञ के स्वरूप का खुलासा किया है। अब क्रमबद्धपर्याय को समझाते हैं।

यद्यपि 'क्रमबद्धपर्याय' स्वतः संचालित अनादि-निधन सुव्यवस्थित विश्व-व्यवस्था का एक ऐसा नाम है जो अनन्तानन्त सर्वज्ञ भगवन्तों के ज्ञान में तो अनादि से है ही, उनकी दिव्यवाणी से उद्‌भूत चारों अनुयोगों में भी है। इसे चारों ही अनुयोगों में सर्वत्र देखा, खोजा जा सकता है। बस, देखने के लिए निष्पक्ष शोधपरक दृष्टि चाहिए।

प्रथमानुयोग में ६३ शलाका पुरुषों के भूत और भावी भवों की चर्चा से पुराण भरे पड़े हैं।

---

१ जदि पच्चक्खमजादं पज्जाय पलयिद च णाणस्स।
ण हवदि वा त णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति॥३९॥

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका जलने की घोषणा बारह वर्ष पूर्व कर दी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि किस निमित्त से, कैसे और कब – यह सब-कुछ घटित होगा। अनेक उपायों के बाद भी वह सब कुछ उसी रूप में घटित हुआ।

भगवान आदिनाथ ने मारीचि के बारे में एक कोड़ा-कोड़ी सागर तक कब क्या घटित होने वाला है – सब-कुछ बता ही दिया था। क्या वह सब-कुछ पहिले से निश्चित नहीं था ? असंख्य भव पहिले यह बता दिया गया था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। तब तो उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी नहीं हुआ था; क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति बंध जाने के बाद असंख्य भव नहीं हो सकते। तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला तो उसी भव में, या तीसरे भव में, अवश्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म बंध जाने से उनका उतना भविष्य निश्चित हो गया था।

यहाँ तक कि पूजन-पाठ में भी कदम-कदम पर क्रमबद्धपर्याय का स्वर मुखरित होता सुनाई देता है

भामण्डल की द्युति जगमगात, भवि देखत निजभव सात-सात।

तीर्थंकर भगवान के प्रभामण्डल में भव्यजीवों को अपने-अपने सात-सात भव दिखाई देते हैं। उन सात भवों में तीन भूतकाल के, तीन भविष्य के एवं एक वर्तमान भव दिखाई देता है।

इसके अनुसार प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही हैं, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते ?

क्रमबद्धपर्याय से आशय यह है कि **इस परिणमनशील जगत की परिणमन व्यवस्था क्रमनियमित है। जगत में जो भी परिणमन निरन्तर हो रहा है, वह सब एक निश्चित क्रम में व्यवस्थितरूप से हो रहा है।** स्थूल दृष्टि से देखने पर जो परिणमन अव्यवस्थित दिखाई देता है, वह भी नाटक के मंच पर पड़ी गरीबी की प्रतीक टूटी खाट प्रदर्शन की भाँति सुव्यवस्थित व्यवस्था के अंतर्गत ही है।"

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नहीं कहा गया है कि पर्यायें क्रम से होती हैं; अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमितक्रम में होती हैं। आशय यह है कि **जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक वैसी ही होती है, अन्यथा नहीं – यह नियम है।**

जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि – "जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है। इसप्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।[१]

इसी क्रम में प्राचीन हिन्दी कवियों और टीकाकारों के द्वारा सशक्त भाषा में जो पद्य व गद्य में विचार व्यक्त किए गए हैं, वे मूलतः द्रष्टव्य हैं।

भैया भगवतीदासजी कहते हैं –

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढ़े नहिं घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे।
तू क्यों सोच करै मन कूड़ो, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥[२]

कवि बुधजनजी ने बहुत ही सरल भाषा में क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा के बल पर स्वयं को निर्भय होने की घोषणा की है। वे लिखते हैं –

१. ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियद जम्म वा अहव मरण वा॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कादि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥३२२॥
एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी॥३२३॥

'जा करि जैसें जाहि समय में, जो होतव जा द्वार।
सो बनिहै टरिहै कछु नाहीं, करि लीनों निरधार॥
हमको कछु भय ना रे! जान लियो संसार॥'[2]

उक्त प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मानकर भविष्य निश्चित है – ऐसा कहा गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'क्रमबद्धपर्याय' की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है।

सर्वज्ञ को धर्म का मूल कहा गया है। जो व्यक्ति सर्वज्ञ भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका मोह नियम से क्षय हो जाता है। अतः अरहंतों को जानना तो हमारी प्राथमिकता है।[1] जब सर्वज्ञता हमारा लक्ष्य है, प्राप्तव्य है, आदर्श है, उसे प्राप्त करने के लिए सारा यत्न है तो फिर उसके सच्चे स्वरूप को तो समझना ही होगा। उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

'सर्वज्ञता' और 'क्रमबद्धपर्याय' परस्परानुबद्ध हैं। एक का निर्णय व सच्ची समझ दूसरे के निर्णय के साथ जुड़ी हुई है। दोनों का निर्णय ही सर्वज्ञस्वभावी निज आत्मा के अनुभव के सम्मुख होने का साधन है।"

अम्मा ने पूछा – "यह तो ठीक है; परन्तु आये दिन दुर्घटनाओं में जो अकाल मृत्यु होती है, हत्याओं और आत्महत्याओं द्वारा जो बे-मौत मौतें होती हैं, उनका क्या होगा ? क्या ये सब भी क्रमबद्धपर्याय के अनुसार अपने-अपने स्व-समय में ही होती हैं ?

यदि ये सर्वज्ञ के जाने अनुसार पूर्व निर्धारित अपने समय में होतीं हैं तो हत्यारों को अपराधी क्यों माना जाता ? और उन्हें मौत तक का कठोर दण्ड क्यों दे दिया जाता है ?"

---

१. प्रवचनसार, गाथा ८०
२ कविवर बनारसीदास : नाटक समयसार

सावधान करते हुए समताश्री ने बताया कि "वस्तुत: हत्यारा व्यक्ति जीव घात के कारण अपराधी नहीं है; बल्कि उसने जो हत्या का भाव किया, वह अपने उस हत्या के अभिप्राय के कारण अपराधी है और उसे उसी अभिप्राय की सजा मिलती है, जीवघात तो जब जिन कारणों से होना था, तदनुसार ही हुआ है।

उदाहरणार्थ एक पानी से भरे उस घड़े को लें जो शिवपिण्डी पर लटक रहा है और उसमें १ लीटर पानी है। एक गणितज्ञ से पूछा कि यह घड़ा कब तक खाली होगा। उसने ५ मिनिट में टपके पानी को नाप कर गणित से बता दिया, २४ घंटे में। वही प्रश्न एक ज्योतिषी से पूछा – उसने कहा एक घंटे में। दोनों के उत्तरों को सुनकर जब तीसरे ज्ञानी पुरुष से पूछा कि कौन-सा उत्तर सही है कौन गलत ? तो उन्होंने कहा – अपनी-अपनी दृष्टिकोण से दोनों ही सही हैं। गणितज्ञ के अनुसार एक-एक बूँद गिरती तो २४ घंटे ही लगते; परन्तु ज्योतिष के ज्ञान के अनुसार १ घंटे बाद एक लड़का आकर छेद बड़ा कर देगा और पूरा पानी एक घंटे में बह जायेगा। यह कथन भी सही है।

इसीप्रकार अकालमृत्यु में काल समवाय के सिवाय निमित्तादि की अपेक्षा मुख्य रहती है; आगम में काल के अतिरिक्त चार समवायों का एक नाम अकाल भी है; अत: यदि काल को गौण करो तो वह मरण अकाल मरण कहलाता है; जबकि सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार उस जीव का उसी समय मरण उनके ज्ञान में आया था। इसीकारण ज्ञानी मृत्युभय से निर्भय हो जाते हैं। फिर अकाल मरण होता ही नहीं है – ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि काल को गौण किया जाता है, उसका अभाव नहीं।

तात्पर्य यह है कि पाँच समवायों में काल के अतिरिक्त अन्य स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार और निमित्तरूप चार समवायों की मुख्यता से मृत्यु की बात करें तो उसे अकाल मरण कहते हैं तथा जब काल की मुख्यता से बात करें तो वही मृत्यु की घटना स्वकाल में हुई – ऐसा कहा जाता है।"

एक श्रोता ने पूछा – "जब सबकुछ क्रमबद्ध ही है तो आप समझाने के चक्कर में पड़कर व्यर्थ परेशान ही क्यों हो रहीं हैं ? जब हमारी समझ में आना होगा, आ जावेगा और यदि नहीं आना होगा, तो नहीं आवेगा; आप इतनी अधीर क्यों हो रही हैं ?"

समताश्री ने कहा – "हम क्यों परेशान हो रहे हैं, इतने अधीर क्यों हो रहे हैं ? – आपका यह कहना भी ठीक ही है; परन्तु हम आपके कारण नहीं, अपने राग के कारण अधीर हो रहे हैं। हम भी चाहते हैं कि हम भी जगत की चिन्ता में व्यर्थ ही अधीर न हों; पर हम क्या करें हमें यह राग आ ही जाता है, आये बिना रहता नहीं है और इस भूमिका में यह अनुचित भी नहीं है। मुक्तिमार्गी भावलिंगी मुनिराजों को भी इसप्रकार का राग आये बिना नहीं रहता, अन्यथा परमागमों की रचना भी कैसे होती, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यह राग अच्छा है। आखिर है तो राग ही, जो आकुलतारूप ही है। जो इस शुभोपयोग से ऊपर उठकर स्वरूप में स्थिर हो जाय तो उससे बढकर तो कोई बात हो ही नहीं सकती, परन्तु मुनिराजों के समान हमारे भी यह राग आये बिना नहीं रहता कि जिस सत्य को हमने समझा है, जिससे हमें अनंत शान्ति मिली है, उस सत्य को सारा जगत समझ कर अभूतपूर्व शान्ति प्राप्त करे।

जिन्हें क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ लुप्त होता हुआ दिखता है, उन्हें पुरुषार्थ की परिभाषा और स्वरूप का जैनदर्शन के आलोक में पुनरावलोकन करना होगा।"

दूसरे श्रोता ने पूछा – "सर्वज्ञ भगवान ने जब हमें धर्म का प्रगट होना देखा होगा, उसीसमय प्रगट होगा तो इससमय यह सब समझाने की क्या जरूरत है ?"

उत्तर में समताश्री ने कहा – "अरे भाई ! 'सर्वज्ञ भगवान ने जो देखा है, उसीप्रकार सब होता है' – ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान का और वस्तु के स्वभाव का निर्णय जिसने किया ? उसकी वह ज्ञान पर्याय आत्मस्वभावोन्मुख हुये बिना नहीं रहती तथा उसे वर्तमान में ही धर्म का प्रारम्भ हो

जाता है, और सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में भी वैसा ही ज्ञात हुआ होता है।

जिसने आत्मा के पूर्णज्ञान सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसमें एकता स्थापित की, वास्तव में उसी को सर्वज्ञ के ज्ञान की प्रतीति हुई कहलाती है।

वास्तव में ज्ञायकपना ही आत्मा का पुरुषार्थ है, ज्ञायकपने से पृथक दूसरा कोई सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है।

अरे ! मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव मोक्ष के लिये ऐसे पुरुषार्थ पूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करेंगे – ऐसा ही सर्वज्ञ भगवान ने देखा है। ऐसे यथार्थ निर्णय में तो जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ भी आ गया। स्वभाव और पुरुषार्थ की श्रद्धा वाले की होनहार भी भली होती है और उसकी काललब्धि भी मुक्तिमार्ग पाने के निकट आ गई, इसतरह जिसके चार-चार समवाय हो गये उसको निमित्त भी तदनुकूल मिलता ही है।

इस सर्वज्ञता के और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त स्वतः फलित हो जाता है; क्योंकि वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त में छहों द्रव्य-गुण-पर्यायों के परिणमन को स्वतंत्र, स्वावलम्बी बताते हुए भी उनमें जो कारण-कार्य का स्वाभाविक सम्बन्ध दर्शाया है, वही सब प्रक्रिया क्रमबद्धपर्याय में भी होती है।

जो व्यक्ति इन्हें समझकर इनका श्रद्धालु हो जाता है, नियम से उसका संसार सागर गोखुर के गड्ढे जैसा अल्प रह जाता है।"

समय समाप्त होने को ही था कि अम्माजी ने पूछा – "धर्माचरण करते हुए भी कषायें कम नहीं होती। राग-द्वेष यथावत चालू रहते हैं। मैं भी उन्हीं में एक हूँ, कृपया इसका और उपाय हो तो वे भी बता सकें तो अच्छा है।"

समताश्री ने कहा "यह विषय भी विचारणीय है; परन्तु अभी समय हो गया। कल ज्योत्स्ना ने महावीर जयंती के उपलक्ष में जो गोष्ठी का आयोजन रखा है। उसका विषय चार अभाव से वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि है। इसी की चर्चा में आपकी समस्या का समाधान हो जायेगा।" ●

१०

कुछ अनछुए पहलू

महिला मंडल के मंच से आयोजित महावीर जयंती के दो दिवसीय मंगल महोत्सव के प्रारंभ में मंच की संचालिका ज्योत्स्ना जैन ने आज के अध्यक्ष को मंच पर आने का आह्वान करते हुए कहा – "इस वर्ष हम इस अवसर पर विविध कार्यक्रमों द्वारा भगवान महावीर द्वारा निरूपित उन अनछुए महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे जो आम जनता में अबतक चर्चित ही नहीं हुए। अबतक अधिकांश भगवान महावीर और उनकी अहिंसा विषय पर ही बोला जाता रहा है।

यदि हमें नर से नारायण ही नहीं, बल्कि पशु से परमात्मा बनने की प्रक्रिया जानना है तो भगवान महावीर के जीवन दर्शन को देखना होगा, एतदर्थ उनके दस भव पीछे जाकर हम उनकी सिंह पर्याय की जीवन शैली की कल्पना करें, जब उस सिंह के पंचेन्द्रिय जीवों के प्राणघात किए बिना पेट भरना भी असंभव था; क्योंकि सिंह के प्रकृति से ही न तो ऐसे दाँत होते हैं, जिनसे कि वह घास चबा सके और न ऐसी आँत ही होती है जिससे कि शाकाहार को पचा सके और उस खूंखार प्राणी को रोज-रोज रोटियाँ कौन दे? इस कारण उदरपोषण के लिए मांसाहार उसकी तो मजबूरी थी।

मांसाहारी पशुओं की मजबूरी की बात तो समझ में आती है, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि मनुष्य को ऐसी क्या मजबूरी है जो मांसाहार एवं मांसाहार जैसे अन्य अभक्ष्य पदार्थ खाता है। यह तो प्रकृति से ही शाकाहारी है। किसी कवि ने बहुत अच्छा लिखा है –

'मनुज प्रकृति से शाकाहारी, मांस उसे अनुकूल नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल-फूल नहीं है।।'

खैर ! मैं तो महावीर भगवान के दस भव पूर्व सिंह पर्याय की बात कह रही हूँ। सिंह जैसी क्रूर पर्याय में आत्मकल्याण के हेतुभूत सद् निमित्तों

की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती; फिर भी उसकी भली होनहार से आकाशमार्ग में गमन करते हुए दो मुनिराजों ने सिंह को देखा और उसे निकट भव्य जानकर वे उसे संबोधनार्थ नीचे उतरे। उस समय सिंह के मुँह में माँस था, हाथ खून से लथ-पथ थे। सौभाग्य से उसे आकाशमार्ग से उतरते हुए मुनिराजों के दर्शन हुए तथा संबोधन प्राप्त होने से उसका जीवन धन्य हो गया। उसकी आँखों से पश्चात्ताप की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। उसने आजीवन मांसाहार के त्याग का संकल्प कर लिया। वही जीव आगे चलकर महावीर बना.......।"

इसप्रकार भाषणों के प्रवर्तन के पूर्व श्रीमती ज्योत्स्ना ने भगवान महावीर के सिंह की पर्याय से लेकर महावीर तक के जीवनदर्शन का सामान्य परिचय देते हुए घोषणा की कि आगामी दिनों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत भाषण प्रतियोगिता एवं लघु नाटिका आदि कार्यक्रम होंगे। जिनके विषय होंगे – वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि में चार अभाव, षट्कारक। वस्तुतः वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त मोक्ष महल की नींव का पत्थर है और मोक्षमार्ग का मूल आधार भी है।

इन विषयों से अन्य जन तो अपरिचित हैं ही, महावीर के अधिकांश अनुयायी भी भलीभाँति परिचित नहीं है, अतः इन विषयों पर आधारित कार्यक्रम रखे गये हैं।

×　　　　　　　　×　　　　　　　　×

ज्योत्स्ना ने कहा – "मैं सर्वप्रथम **'चार अभाव के माध्यम से वस्तुस्वातंत्र्य'** की सिद्धि पर प्रकाश डालने के लिए अनेकान्त शास्त्री को आमंत्रित करती हूँ, कृपया अनेकान्तजी पधारें और विषय का प्रवर्तन करें।"

महावीर जयन्ती की पूर्व संध्या में गोष्ठी की प्राथमिक औपचारिकताओं के पश्चात् अनेकान्त शास्त्री ने मंचासीन महानुभावों एवं सभासदों को सबोधित करते हुए विषय का प्रवर्तन किया।

उन्होंने कहा – "यद्यपि आज के भाषण प्रतियोगिता का विषय 'चार अभाव' आम सभाओं में अचर्चित रहने से नवीन श्रोताओं को

नया सा लगेगा; परन्तु भगवान महावीर की अहिंसा और अपरिग्रह की बहुचर्चित बात इस विषय को जाने बिना अधूरी ही रह जाती है; क्योंकि अहिंसा और अपरिग्रह तो धर्मवृक्ष के फल हैं, मोक्ष महल के कंगूरे हैं। धर्मवृक्ष की जड़ या मोक्षमहल की नींव का पत्थर तो वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त है, जिस पर मोक्षमहल अनन्तकाल तक खड़ा रहता है। जैसे नींव के बिना महल की एवं कंगूरों की कल्पना भी नहीं की जा सकती, उसीप्रकार वस्तु स्वातंत्र्य को तथा वस्तु के भाव-अभाव, सत्-असत्, एक-अनेक, चित्-अचित्, नित्य-अनित्यादि धर्मों को जाने-समझे बिना मोक्षमहल की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी नहीं होगी और प्रथम सीढी के बिना अहिंसा एवं अपरिग्रहरूप कंगूरों सी शोभा कहाँ-कैसे होगी ? वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन रूपी धर्मवृक्ष के बिना अहिंसा और अपरिग्रह के फल कहाँ फलेंगे ?

यहाँ ज्ञातव्य है कि वस्तुस्वातंत्र्य और अभावों का अतिनिकट का संबंध है। अधिकांश जैनेतर दर्शनों में 'अभाव' नामक सिद्धान्त की चर्चा है, परन्तु वह चर्चा वस्तुस्वातंत्र्य की नींव का पत्थर नहीं बन सकी; क्योंकि वे अपने मूल उद्देश्य तक नहीं पहुँचे, जबकि यह भी धर्मोपलब्धि में उपयोगी विषय है। इसे भी जन-जन का विषय बनाना ही होगा, अन्यथा धर्माचरण सार्थक नहीं हो सकेगा।''

जिनसेन ने बीच में ही प्रश्न किया – ''अनेकान्तजी ! मैंने अबतक यह तो सुना था कि हिन्दुस्तान में हिन्दूधर्म के सिवाय, बौद्ध धर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म और इस्लाम धर्म आदि अनेक धर्म और उनके अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं, पर ये नित्य-अनित्य, भाव-अभाव आदि धर्मों के नाम मैंने कभी नहीं सुनें। ये भाव-अभाव धर्म क्या है ? मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आया।''

अनेकान्तजी ने उत्तर दिया –''अरे भाई ! तुम भगवान महावीर के भक्त होकर इतना भी नहीं जानते? तुम जिन धर्मों की बात कर रहे हो – ये कोई धर्म नहीं हैं, ये तो सम्प्रदाय हैं। इनमें कुछ तो व्यक्तियों के नाम पर हैं और कुछ मान्यताओं के आधार पर हैं। जैसे जैनधर्म, बुद्ध धर्म, ईसाई

धर्म, सिख धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म आदि। वस्तुतः अनादिनिधन सनातन धर्म तो वस्तुओं का स्वभाव है। इसी संदर्भ में अनन्तधर्मात्मक वस्तु को अनेकान्त कहते हैं। यह अनेकान्त वस्तु का धर्म है। जिस वस्तु में अनन्त धर्म पाये जायें, वह वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, अनन्तधर्मात्मक है, इस वस्तुधर्म के परस्पर विरोधी जोड़े होते हैं। जैसे नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, सत्-असत्, तत्-अतत्, भाव-अभाव आदि।

जिसप्रकार स्व की अपेक्षा से सद्भाव धर्म है, उसीप्रकार पर की अपेक्षा से अभाव भी पदार्थ का सद्भावरूप धर्म है। इस अभाव धर्म के सद्भाव के कारण ही सब वस्तुएँ अपने-अपने अस्तित्व में जुदी-जुदी रहतीं हैं। यदि यह अभावधर्म न होता तो सब वस्तुएँ मिलकर एकमेक हो जातीं, सर्व वस्तुएँ सर्वात्मक हो जातीं।

'अभाव' की परिभाषा करते हुए आचार्य ने बताया है कि – "किसी एक पदार्थ का अन्य पदार्थों में न होना 'अभाव' है। यद्यपि यह 'अभाव' नामक वस्तुधर्म छहों द्रव्यों में सद्भावरूप से ही विद्यमान है, परन्तु परद्रव्य की अपेक्षा से देखें तो स्व-वस्तु परवस्तु नहीं है। इसप्रकार एक द्रव्य का अस्तित्व दूसरे द्रव्य में न होना ही अभाव है। प्रत्येक द्रव्य में एक ऐसी 'अभावशक्ति' का सद्भाव है कि जिसकी वजह से परद्रव्य का उसमें प्रवेश नहीं होता।

ये अभाव चार प्रकार के होते हैं – १. प्राक् अभाव, २. प्रध्वंश अभाव, ३. अन्योन्य अभाव और ४. अत्यन्त अभाव।

प्रथम दो अभावों की परिभाषायें इसप्रकार हैं – उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य का अभाव प्राक् अभाव या प्रागभाव है अर्थात् पूर्व पर्याय में वर्तमान पर्याय का अभाव प्रागभाव है। इसीप्रकार वर्तमान पर्याय का आगामी पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।

उदाहरणार्थ हम भगवान महावीर स्वामी की तीन पर्यायें पकड़ें – १. मारीचिरूप भूतकाल की पर्याय २. सिंह की वर्तमान पर्याय और ३. भविष्य की महावीर पर्याय। इनके बीच में हुई पर्यायों को बिलकुल

गौण कर दें, फिर देखें कि वर्तमान सिंह पर्याय का भूतकाल में हुई मारीचि पर्याय में जो अभाव है, वह प्रागभाव है। इसीप्रकार – सिंह की पर्याय का महावीर की पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।

दूसरा उदाहरण : दही (वर्तमान पर्याय) दूध (भूतकाल की पूर्व पर्याय) तथा छांछ (भविष्य की पर्याय) को देखें।

दही वर्तमान पर्याय का पूर्व दूध की पर्याय में अभाव प्रागभाव है। उसी दही पर्याय का आगामी छांछ की पर्याय में अभाव प्रध्वंसाभाव है।

आत्मा पर घटायें तो आत्मा के जो छहढाला में तीन भेद हैं – १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा। अन्तरात्मा वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय बहिरात्मा में अभाव प्रागभाव और आगामी परमात्मा पर्याय में अन्तरात्मा का अभाव प्रध्वंसाभाव है।

प्रथम तीन अभाव – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव एवं अन्योन्याभाव वस्तु के पर्याय स्वभाव पर लागू होते हैं और वे पर्याय की स्वतंत्रता को प्रगट करते हैं। अन्तिम अत्यन्ताभाव दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों पर लागू होता है एवं द्रव्यों की स्वतंत्रता को बताता है।

प्रागभाव बताता है कि एकसमयवर्ती वर्तमान पर्याय का सद्भाव या अस्तित्व मात्र वर्तमान समय में ही है। उसी द्रव्य की निकटवर्ती भूत व भावी पर्यायों में उसकी उपस्थिति न होने से उसके द्वारा उनका कुछ भी भला-बुरा करने एवं सहायरूप होने आदि में कुछ भी योगदान संभव नहीं है। अतः वर्तमान पर्याय न तो अपनी द्रव्य का ही भूत व भावी एकक्षणवर्ती पर्यायों में कुछ परिवर्तन या हस्तक्षेप कर सकती है और न वे एक ही द्रव्य की भूत व भावी पर्यायें वर्तमान पर्याय में हस्तक्षेप या सहयोग कर सकती हैं। अतः प्रत्येक द्रव्य की एकसमयवर्ती पर्याय पूर्ण स्वतंत्र है, इसप्रकार प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव वर्तमान पर्याय की स्वतंत्रता बताकर वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त का पोषण करते हैं। तथा तीसरा – अन्योन्याभाव केवल पुद्गल द्रव्य की दो वर्तमान पर्यायों पर लागू होता है। एक पुद्गलद्रव्य की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्याय में अभाव को

अन्योन्याभाव कहते हैं। यह परमाणु-परमाणु की स्वतंत्रता की घोषणा करता है। चौथा – अत्यन्ताभाव एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अभाव बताकर प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखता है। प्रत्येक द्रव्य सदैव एकत्व स्वरूप में रहता है। अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ता और अपना स्वभाव छोडे बिना तथा अन्यरूप हुए बिना अन्य का कार्य करना संभव नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवार खड़ी है। इस अत्यन्ताभाव को जानने एवं इसकी श्रद्धा से धर्मसंबंधी लाभ यह है कि जब दो द्रव्यों में अत्यन्त अभाव विद्यमान है तो फिर अन्य द्रव्य मेरा भला-बुरा कैसे कर सकता है ? अतः न दूसरों से भय रहता है और न दूसरों से सुख की आशा ही रहती है।

इसप्रकार अभाव के चारों भेद वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि करते हैं। जो इन्हें समझ कर इनकी प्रतीति करते हैं। श्रद्धा करते हैं, वे अल्पकाल में ही राग-द्वेष से मुक्त होकर वीतरागी बन जाते हैं।"

अनेकान्त ने श्रोताओं से प्रश्न किया – "चारों अभावों का स्वरूप समझ में आया ?"

विराग ने हाथ ऊँचा करते हुए थोड़ा रुक कर कहा – "हाँ, आ गया।"

अनेकान्त ने कहा – "आ गया तो बताओ देह और आत्मा में कौन-सा अभाव है, सकारण उत्तर दो।"

विराग ने कहा – "अत्यन्ताभाव है, क्योंकि देह और आत्मा भिन्न-भिन्न दो द्रव्य हैं और द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव होता है।"

अनेकान्त ने पुनः पूछा – बताओ "पुस्तक और घड़े में कौन-सा अभाव है ?"

अनुराग ने हाथ उठाया और संकेत पाकर उत्तर दिया – "अन्योन्याभाव, क्योंकि पुस्तक और घड़ा दोनों पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।"

अनेकान्त ने प्रोत्साहित करते हुए कहा – "बहुत अच्छा...पर ध्यान रखें प्रश्न सुनकर पहले हाथ उठायें, फिर जिससे – उत्तर देने को कहें, वही उत्तर दे। इससे सबको सोचने का अवसर मिलता है।

अच्छा बताओ – "आत्मा अनादि से केवलज्ञानमय है – ऐसा माननेवाले ने कौन-सा अभाव नहीं माना और क्यों ?...."अनेकान्त ने सम्यक् की ओर संकेत किया।

सम्यक् ने कहा – "प्रागभाव, क्योंकि केवलज्ञान तो ज्ञानगुण की पर्याय है न, अतः केवलज्ञान होने के पूर्व की मतिज्ञानादि पर्यायों में उसका अभाव है।"

अनेकान्त ने कहा – "आशा है, चार अभावों का स्वरूप तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा ? यदि आ गया तो बताओ –

शरीर और जीव में कौन-सा अभाव है।"

श्रोता – "अत्यन्ताभाव, क्योंकि एक पुद्गल द्रव्य है और दूसरा जीव द्रव्य है और दो द्रव्यों के बीच होनेवाले अभाव को ही अत्यन्ताभाव कहते हैं।"

दूसरे श्रोता से प्रश्न – "टेबल और माईक में कौन-सा अभाव है?"

श्रोता – "अन्योन्याभाव, क्योंकि टेबल और माईक दोनों पुद्गल द्रव्य की वर्तमान पर्यायें हैं।"

तीसरे श्रोता से प्रश्न – "यह वर्तमान राग मुझे जीवन भर परेशान करेगा' ऐसा मानने वाले ने कौन-सा अभाव नहीं माना ?"

श्रोता का उत्तर – "प्रध्वंसाभाव, क्योंकि वर्तमान राग का भविष्य की चारित्रगुण की पर्यायों में अभाव है, अतः वर्तमान राग भविष्य के सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता।"

एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया – कृपया बतायें कि – "इन चार प्रकार के अभावों को समझने से क्या-क्या लाभ हैं ?"

अनेकान्त ने उत्तर में कहा – "अनादि से मिथ्यात्वादि महापाप करनेवाला आत्मा पुरुषार्थ करे तो वर्तमान में उनका अभाव कर

सम्यक्त्वादि धर्म दशा प्रगट कर सकता है, क्योंकि वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में अभाव है, अतः प्रागभाव समझने से 'मैं पापी हूँ, मैंने बहुत पाप किये हैं, मैं कैसे तिर सकता हूँ ? आदि हीन भावना निकल जाती है।

प्रध्वंसाभाव के समझने से यह ज्ञान हो जाता है कि वर्तमान में कैसी भी दीन-हीन दशा हो, भविष्य में उत्तम से उत्तम दशा प्रगट हो सकती है; क्योंकि वर्तमान पर्याय का आगामी पर्यायों में अभाव है, अतः वर्तमान पामरता देखकर भविष्य के प्रति निराश न होकर स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ प्रगट करने का उत्साह जागृत होता है।''

जिज्ञासु ने निवेदन किया – ''कृपया अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव की स्वीकृति से क्या-क्या लाभ है ?''

अनेकान्त ने बताया कि – ''अन्योन्याभाव की श्रद्धा से अभक्ष्य-भक्षण के विकल्प खत्म हो जाते हैं। **अल्प फल बहुविघात** जैसी पाप क्रियायें रुक जाती हैं; क्योंकि एक पुद्गल की वर्तमान पर्याय का दूसरे पुद्गल की वर्तमान पर्याय में अभाव है, अतः शरीर में अभक्ष्य पदार्थ से जब कुछ लाभ ही नहीं तो व्यर्थ में यह पाप क्यों करना ?

अत्यन्ताभाव यह बताता है कि दो द्रव्यों के बीच में जब वज्र की दीवार है, एक द्रव्य का दूसरे से कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसी परिस्थिति में परद्रव्य हमारा कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकते। ऐसी श्रद्धा से पर के प्रति राग-द्वेष स्वतः कम होने लगते हैं और हम वीतराग धर्म की ओर अग्रसर होते हैं।

इसतरह चारों अभावों के समझने से स्वाधीनता का भाव जागृत होता है, पर से आशा की चाह समाप्त होती है, भय का भाव निकल जाता है, भूतकाल और वर्तमान की कमजोरी और विकार देखकर उत्पन्न होनेवाली दीनता समाप्त हो जाती है और स्वसन्मुख होने का पुरुषार्थ जागृत होता है। आशा है, अब तुम्हारी समझ में इनके जानने से क्या लाभ है, यह भी आ गया होगा ?''

अन्त में कुछ श्रोताओं से वक्ता ने पुनः कुछ प्रश्न किए, जिनके संतोषजनक उत्तर प्राप्त हुए। श्रोता ने कहा – "जो आपने समझाया, वह सब बहुत अच्छी तरह समझ में आ गया।"

"आ गया तो बताओ ! 'शरीर मोटा-ताजा हो तो आवाज भी बुलन्द होती है' – ऐसा माननेवाला क्या गलती करता है ?"

उत्तर – "वह अन्योन्याभाव का स्वरूप नहीं जानता, क्योंकि शरीर का मोटा-ताजा होना आहार वर्गणारूप पुद्गल का कार्य है और आवाज बुलन्द होना भाषा वर्गणा का कार्य है। इन दोनों में अन्योन्याभाव है।

दूसरे श्रोता से प्रश्न – "ज्ञानावरणी कर्म के क्षय के कारण आत्मा में केवलज्ञान होता है ऐसा माननेवाले ने क्या भूल की ?"

श्रोता का उत्तर – "उसने अत्यन्ताभाव को नहीं जाना; क्योंकि ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल द्रव्य और आत्मा जीवद्रव्य है, दोनों में अत्यन्ताभाव है, फिर एक द्रव्य के कारण दूसरे द्रव्य में कार्य कैसे हो सकता है ?"

तीसरे श्रोता से प्रश्न – "शास्त्र में ऐसा क्यों लिखा है कि ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ?"

श्रोता का उत्तर – "शास्त्र में ऐसा निमित्त का ज्ञान कराने के लिए असद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः निश्चयनय से विचार किया जाय तो एकद्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य का कर्ता हो ही नहीं सकता।"

अनेकान्त ने कहा – "आपने मेरी बात को ध्यान से सुना, एतदर्थ धन्यवाद। देखो, वस्तुस्वरूप तो अनेकान्तात्मक है। अकेला भाव ही वस्तु का स्वरूप नहीं है, अभाव भी वस्तु का धर्म है। उसे माने बिना वस्तु की व्यवस्था नहीं बनेगी। चारों अभावों का स्वरूप अच्छी तरह समझ मोह-राग-द्वेषादि विकारों का स्वतः ही अभाव हो जाता है। सभी श्रोता अभाव का स्वरूप समझकर राग-द्वेष का अभाव करने का प्रयत्न करें – इसी भावना से विराम लेता हूँ।" ●

११

आयोजन का प्रयोजन पहचानें

तिरिया चरित्रं, पुरुषस्य भाग्यं।
देवो न जानाति, कुतो मनुष्य॥

हो सकता है कि सामान्य नारियों के मायाचारी कुटिल स्वभाव को देखकर और पुरुषों के अनायास होते उत्थान-पतन को देखकर कवि ने अफसोस व्यक्त करते हुए उक्त पंक्तियाँ लिखी हों –

ये पंक्तियाँ लिखते समय कवि का क्या अभिप्राय रहा होगा? उनके दृष्टिपथ में कैसी स्त्रियाँ और कैसे पुरुष रहे होंगे – यह तो मैं नहीं कह सकता, क्योंकि स्त्री जाति कुटिलता के लिए बदनाम भी रही हैं; सामान्यत अधिकांश नारी जाति पेट में पाप रखती हैं, छल करती हैं, वे कब क्या कर बैठें – इस बात को देवता भी नहीं जान सकते। मनुष्य तो कैसे जान सकेंगे; परन्तु समता श्री और जीवराज उन साधारण मनुष्यों में नहीं है। उन्होंने तो स्व-पर के हित में अपने जीवन को अनेक मोड़ दिए और अंत में अपने मानव जीवन को धन्य कर लिया।

''जब उक्त पंक्तियों के आलोक में मैं समताश्री के चरित्र और जीवराज के भाग्य को देखता हूँ तो मुझे लगता है निश्चय ही ये पंक्तियाँ इन्हीं जैसे किन्ही महान चरित्र नायक-नायिकाओं एवं सौभाग्यशाली जीवों के संदर्भ में कहीं गईं होंगी।

समता श्री के बचपन से विवाह तक की जीवन यात्रा को देखकर यह कौन कल्पना कर सकता था कि ब्याह के बाद समताश्री को कैसी-कैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा और वे किन-किन परिस्थितियों से गुजरेंगी? तथा वे स्वयं के व्यक्तित्व का विकास किस ढंग से कैसे करेंगी? यह सब उनके भविष्य के गर्भ में था।

अभी तक 'भरतजी घर में ही वैरागी' की कहानी सुना करते थे परन्तु भरतजी के सामने ऐसी कोई चुनौतियाँ नहीं थीं; जैसी समताश्री के समक्ष उपस्थित हुई; परन्तु वे वस्तु स्वातंत्र्य की श्रद्धा के बल पर विषम से विषम परिस्थितियों का सामना करते हुए स्वयं को संभाले रही।' यह सुखद आश्चर्यजनक बात है।

यदि तत्त्वज्ञान का बल न होता, क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा न होती, चार अभाव और षट्कारकों का ज्ञान न होता तो उसके जीवन के किसी भी मोड़ पर, कोई भी असंभावित दुर्घटना घट सकती थी। जीवन के किसी भी उतार-चढ़ाव में वह विचलित हो सकती थी; नारी के चरित्र को सर्वज्ञ के सिवाय और कौन जान सकता था, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ; क्योंकि उसे तत्वज्ञान का सम्बल था।

आज हम समताश्री की तुलना पौराणिक और ऐतिहासिक नारियों से करने के लिए पीछे मुड़कर देखते हैं तो राजुल, सीता, द्रौपदी और अंजना से भी वह दो कदम आगे दिखाई देती है। यह सब उसके जीवन पर पडे अध्यात्म का ही प्रभाव है।

यदि अन्य नारियों को अपने जीवन को सार्थक करना हो तो उन्हें समताश्री के आदर्शों पर चलना ही होगा।"

इसीप्रकार जब हम जीवराज के भाग्य का अवलोकन करते हैं तो उनके भाग्य ने भी अनेकों करवटें बदलीं। उनके जीवन ने यह सूक्ति सार्थक कर दी कि '**सबै दिन जात न एक समान**' जीवराज यौवन के आरंभ में चारुदत्त की भाँति भटक गये थे। किसी तरह सन्मार्ग पर आये तो कुछ दिन बाद ही जब उन्हें पूरे दायें अंग में लकवा और हाथ-पैरों में कम्प रोग का भयंकर आक्रमण हुआ तो सभी ने उनके जीवन की आशा ही छोड़ दी थी; परन्तु उनके भाग्य ने पुनः करवट बदली और उनकी सती सावत्री जैसी धर्मपत्नी समताश्री अपनी अथक सेवा से अन्ततः उन्हें मौत के मुँह से छुड़ाकर वापिस लाने में सफल हो ही गईं।

जीवराज का कम्परोग तो ठीक हुआ ही, आवाज भी लौट आई।

महावीर जयन्ती के मंगल महोत्सव के दिन उनके मुँह से वर्षों बाद महावीर स्तवन के निम्नांकित छन्द निकले तो सभी श्रोताओं के मन मयूर नाच उठे। समताश्री के तो हर्ष का ठिकाना ही न रहा। वे बोल रहे थे –

"जिसने बताया जगत को प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्ता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है।।
आतम बने परमात्मा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के संदेश में।।[१]
जो निज दर्शन ज्ञान चरित अरु, वीर्य गुणों से हैं महावीर।
अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा, जो कहलाते हैं अतिवीर।।
जिसके दिव्य ज्ञान दर्पण में, नित्य झलकते लोकालोक।
दिव्यध्वनि की दिव्यज्योति से, शिवपथ पर करते आलोक।।"[२]

जीवराज को अपने जवानी के जोश में खोए होश की सजा मानो इसी जन्म में मिल चुकी थी। उनके भाग्य के इस उतार-चढ़ाव को देखकर सैकड़ों लोगों ने सबक सीखा और अपने इस दुर्लभ मनुष्यभव को सफल करने के लिए नियमित स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञायें कर लीं; क्योंकि उन्होंने पढ़ा था, सुना था कि –

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यह परमामृत जन्म-जरा मृतु रोग निवारण।।

तथा –

कोटि जन्म तपतपें ज्ञान बिन कर्म झरैं जो।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति से सहज टरैं ते।[३]

महावीर जयन्ती के दिन ही जीवराज को मानो नया जन्म मिला है, अतः उन्हें शाम की संगोष्ठी में विशिष्ट अतिथि के रूप में आमंत्रित करके

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल महावीर वंदना
२. पं. रतनचन्द भारिल्ल महावीर स्तवन
३. कवि दौलतराम : छहढाला

उनका स्वागत किया गया। उन्होंने गद्-गद् भाव से अपनी हृदयोद्गार व्यक्त करते हुए आज के विषय से संबंधित कुछ वे बातें भी कहीं, जो उन्होंने बीमारी की अशक्त अवस्था में टेप प्रवचनों द्वारा सुनी थीं।

उन्होंने आज के निर्धारित विषय पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया –

"षट्कारक कारण-कार्य प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। मोक्षमार्ग की उपलब्धि में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। वस्तुस्वातंत्र्य जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त को समझने के लिए षट्कारकों का समझना अति आवश्यक है।

यह विषय वस्तुस्वातंत्र्य, कारण कार्य स्वरूप, कर्ता-कर्म और अनेकांत जैसे प्राणभूत सिद्धान्तों जैसा ही महत्वपूर्ण प्रकरण है।

वस्तु की स्वतंत्रता का उद्घोषक और वीतरागता का हेतुभूत यह षट्कारक प्रकरण मोक्षमार्ग में ऐसा उपयोगी विषय है, जिसके जाने बिना वस्तु की कारण-कार्य व्यवस्था का ज्ञान अधूरा है; इससे आत्मोपलब्धि में हेतुभूत स्वावलम्बन का मार्ग सुलभ होता है।

षट्कारकों का विशद विवेचन प्रवचनसार गाथा १६, पंचास्तिकाय गाथा ६२ तथा ६४ एवं ४७ शक्तियों में आई षट्कारक शक्तियों में विशेष किया है।"

इसप्रकार जीवराज के उद्बोधन को सुनकर सभी को भारी संतोष हुआ। इसी विषय पर अध्यापक श्री जिनसेनजी ने मंगलाचरण करते हुए संगोष्ठी के रूप में प्रश्नोत्तर शैली में यही षट्कारक का विषय प्रस्तुत किया।

"स्वात्मोपलब्धि प्राप्त स्वाश्रित, स्वयं से सर्वज्ञता।
स्वयंभू बन जाता स्वतः अरु स्वयं से समदर्शिता॥
स्वतः होय भवितव्य, षट्कारक निज शक्ति से।
उलट रहा मन्तव्य, मिथ्यामति के योग से॥

इस मंगलाचरण में कहा गया है कि स्वानुभूति, सर्वज्ञता, वीतरागता आदि निज कार्य के षट्कारक निज शक्ति से निज में ही विद्यमान हैं; किन्तु मिथ्या मान्यता के कारण अज्ञानी अपने कार्य के षट्कारक पर में खोजता है। यही मिथ्या मान्यता राग-द्वेष की जनक है। अतः कारकों का

परमार्थ स्वरूप एवं उनका कार्य-कारण सम्बन्ध समझना अति आवश्यक है। **अविनाभाव**[१] वश जो बाह्य वस्तुओं में कारकपने का व्यवहार होता है, वे व्यवहार कारक हैं।

जिनसेन का संकेत पाकर एक शिष्य ने प्रश्न किया – "गुरुदेव! कारक कहते किसे हैं?"

जिनसेन ने उत्तर दिया – "जिसका क्रिया से सीधा सम्बन्ध हो, जो क्रिया के प्रति किसी न किसी रूप में प्रयोजक हो, जो क्रिया निष्पत्ति में कार्यकारी हो, क्रिया का जनक हो; उसे कारक कहते हैं।"

तात्पर्य यह है कि जो किसी न किसी रूप में क्रिया व्यापार के प्रति प्रयोजक हो, कार्यकारी हो, वही कारक हो सकता है अन्य नहीं; कारक छह होते हैं। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण।

एक श्रोता ने पूछा – "गुरुदेव ! इन छहों सामान्य कारकों का स्वरूप क्या है और ये कार्य के निष्पन्न होने में किसप्रकार कार्यकारी हैं ?"

जिनसेन ने कहा – "सर्वप्रथम षट्कारकों का सामान्य स्वरूप बताते हैं :–

१. कर्त्ताकारक :- जो स्वतंत्रता से स्वयं कार्यरूप परिणमित होता है तथा जो क्रिया व्यापार में स्वतंत्ररूप से कार्य का प्रयोजक हो, वह कर्त्ता कारक है। प्रत्येक द्रव्य अपने में स्वतंत्र व्यापक होने से अपने ही परिणाम का निश्चय से कर्त्ता है।

2. कर्म कारक :- कर्त्ता जिस परिणाम (पर्याय) को प्राप्त करता है, वह परिणाम उसका कर्म है।

3. करण कारक :- क्रिया की सिद्धि में जो साधकतम होता है, वह करण कारक है।

4. सम्प्रदान :- कर्म परिणाम जिसे दिया जाय वह सम्प्रदान है।

---

१. जिस परद्रव्य की उपस्थिति के बिना कार्य न हो। जैसे – घट कार्य में कुंभकार, चक्र, चीवर आदि।

5. अपादान :- जिसमें से कर्म हो, वह ध्रुव वस्तु अपादान है।

6. अधिकरण :- क्रिया की आधारभूत वस्तु अधिकरण कारक है। अथवा जिसके आधार से कार्य हो , वह अधिकरण है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है कि – 'सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में ये छहों कारक एकसाथ वर्तते हैं, इसलिए आत्मा और पुद्गल शुद्धदशा में या अशुद्ध दशा में स्वयं छहों कारकरूप निर्पेक्ष परिणमन करते हैं, दूसरे कारकों की अर्थात् निमित्त कारणों की अपेक्षा नहीं रखते।'

प्रवचनसार गाथा १६ में भी कहा है – 'निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए पर सामग्री को खोजने की आकुलता से परतंत्र हुआ जाय। अपने कार्य के लिए पर की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अतः पराधीनता से बस हो।'

दूसरे शिष्य ने प्रश्न किया – गुरुदेव ! पंचास्तिकाय और प्रवचनसार के उपर्युक्त कथनों में टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने क्या अन्तर स्पष्ट किया है?

जिनसेन ने उत्तर में कहा – "भाई ! तुमने बहुत उत्तम प्रश्न किया है – सुनो ! यहाँ प्रवचनसार में प्रकरणवश आचार्यदेव ने केवलज्ञान रूप निर्मल पर्याय की प्राप्ति को पूर्ण स्वतंत्र-स्वाधीन सिद्ध किया है और पंचास्तिकाय में कर्म और जीव की विकारी पर्यायों को भी पूर्णतया स्वतंत्र, परनिर्पेक्ष सिद्ध करके स्वतंत्रता की उद्घोषणा करते हुए परकर्तृत्व का पूर्णतया निषेध किया है।"

तीसरे शिष्य ने पूछा – "ये विकारी पर्यायें अहेतुक है या सहेतुक?"

जिनसेन ने कहा – "भाई ! निश्चय से विकारी पर्यायें भी अहेतुक ही हैं; क्योंकि - प्रत्येक द्रव्य अपना परिणमन स्वतंत्र रूप से करता है। परन्तु विकारी पर्याय के समय निमित्त रूप हेतु का आश्रय अवश्य होता है, इसकारण व्यवहार से उसे सहेतुक भी कहा जाता है।

ध्यान दें, कर्मों की विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग रूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गल कृत ही है। जीव के परिणाम तो निमित्तरूप में मात्र उपस्थित होते हैं, वे कर्मों के कर्ता नहीं।"

पुनः प्रश्न – "क्या जीव कर्म के उदय के अनुसार विकारी नहीं होता?"

जिनसेन का उत्तर – "नहीं, कभी नहीं; क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर तो सर्वदा विकार होता ही रहेगा; क्योंकि संसारी जीव के कर्मोदय तो सदा विद्यमान रहता ही है।"

पुनः प्रश्न – "तो क्या पुद्गल कर्म भी जीव को विकारी नहीं करता ?"

जिनसेन का उत्तर – "नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति का कर्त्ता नहीं है।

जब स्व में ही निज शक्तिरूप षट्कारक हों, तभी वस्तु पूर्ण स्वतंत्र एवं स्वावलम्बी हो सकती है।

प्रत्येक वस्तु का जितना भी 'स्व' है, वह स्व के अस्तित्वमय है। उसमें पर के अस्तित्व का अभाव है। सजातीय या विजातीय कोई भी वस्तु अपने से भिन्न स्वरूप सत्ता रखनेवाली किसी भी अन्य वस्तु की सीमा को लांघ कर उसमें प्रवेश नहीं कर सकती; क्योंकि दोनों के बीच अत्यन्ताभाव की बज्र की दीवाल है, जिसे भेदना संभव नहीं है।"

शिष्य ने विनयपूर्वक प्रश्न किया :– "विकारी पर्यायों को भी स्वतंत्र मानने का क्या कारण है, जबकि उनमें कर्म का उदय निमित्त होने से पराधीन कहने का व्यवहार क्या है?"

उत्तर :– "परकृत मानने से पर के प्रति रागद्वेष की संभावना बढ़ जाती हैं और स्वकृत मानने से अपनी कमजोरी की ओर ध्यान जाता है।

प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्त्ता होकर अपना कार्य (कर्म) करता है और करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण आदि छहों कारक रूप से भी द्रव्य स्वयं निज शक्ति से परिणमित होता है। न तो द्रव्य सर्वथा नित्य है

और न ही सर्वथा क्षणिक है; अपितु वह अर्थ क्रिया करण शक्तिरूप है। वह अपने गुणमय स्वभाव के कारण एकरूप अवस्थित रहते हुए भी स्वयं उत्पाद-व्यय रूप है। और भेदरूप या पर्यायरूप स्वभाव के कारण सदा परिणमनशील भी है। यही वस्तु का वस्तुत्व है।

तात्पर्य यह है कि - वह द्रव्यदृष्टि से ध्रुव है और पर्यायदृष्टि से उत्पाद-व्यय रूप है।"

दूसरे शिष्य ने जिज्ञासा प्रगट की – "यदि यह बात है तो आगम में उत्पाद-व्यय रूप कार्य को पर सापेक्ष क्यों कहा ?"

जिनसेन ने समाधान किया – "पर्यायार्थिकनय से तो प्रत्येक उत्पाद-व्यय रूप कार्य अपने काल में स्वयं के षट्कारकों से ही होता है, अन्य कोई उसका कर्त्ता-कर्म आदि नहीं है, फिर भी आगम में उत्पाद-व्ययरूप कार्य का जो पर सापेक्ष कथन है, वह केवल व्यवहारनय (नैगमनय) की अपेक्षा से किया गया है।"

पुनः प्रश्न – "आत्मा की कौन-कौन-सी शक्तियाँ वस्तु के स्वतंत्र षट्कारकों की सिद्धि में साधक हैं ?"

उत्तर :– "भाई ! तुम्हारा यह प्रश्न भी प्रासंगिक है, वैसे तो सभी शक्तियाँ वस्तु की स्वतंत्रता की ही साधक हैं, उनमें कतिपय प्रमुख शक्तियाँ इसप्रकार हैं –

१. भावशक्ति :- इस शक्ति के कारण प्रत्येक द्रव्य अन्वय (अभेद) रूप से सदा अवस्थित रहता है। यह शक्ति पर कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित भवनमात्र है, अतः इस शक्ति द्वारा द्रव्य को पर कारकों से निरपेक्ष कहा है, इससे द्रव्य की स्वतंत्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

२. क्रियाशक्ति :- इस शक्ति से प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप सिद्ध कारकों के अनुसार उत्पाद-व्यय रूप अर्थ क्रिया करता है।

३. कर्मशक्ति :- इस शक्ति से प्राप्त होने वाले अपने सिद्ध स्वरूप को द्रव्य स्वयं प्राप्त होता है।

४. **कर्त्ताशक्ति :-** इस शक्ति से होने रूप स्वतः सिद्ध भाव का यह द्रव्य भावक होता है।

५. **करण शक्ति :-** इससे यह द्रव्य अपने प्राप्यमाण अर्थात् प्राप्त होने योग्य कर्म की सिद्धि में स्वतः साधकतम होता है।

६. **सम्प्रदान शक्ति :-** इससे अर्थात् प्राप्त होनेवाले कर्म स्वयं के लिए समर्पित होते हैं।

७. **अपादान शक्ति :-** इससे उत्पाद-व्यय भाव के उपाय होने पर भी द्रव्य सदा अन्वय रूप से ध्रुव बना रहता है।

८. **अधिकरण शक्ति :-** इससे भव्यमान (होने योग्य) समस्त भावों का आधार स्वयं द्रव्य होता है।

९. **सम्बन्ध शक्ति :-** स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्ध शक्ति अर्थात् यह शक्ति अपने से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती।

इसप्रकार वस्तु के स्वतंत्र षट् कारकों की सिद्धि में उपर्युक्त शक्तियाँ साधक हैं। इन्हीं से प्रत्येक द्रव्य की सभी पर्यायें कारकान्तर निर्पेक्ष सिद्ध होती हैं।"

इस प्रकार महावीर जयन्ती पर आयोजित, विविध कार्यक्रमों के अन्तर्गत सांस्कृतिक संगोष्ठी में अध्यापक और छात्रों द्वारा प्रश्नोत्तर एवं संवादशैली में वस्तु स्वातंत्र्य सिद्धान्त के पोषक षट्कारक विषय को प्रस्तुत किया गया, जिसे श्रोताओं ने ध्यान से सुना, समझा और करतलध्वनि से प्रसन्नता प्रगट करते हुए अनुमोदना की। सभी सक्रिय भाग लेने वाले श्रोताओं एवं वक्ताओं को सरल, सफल, रोचक प्रस्तुति के प्रोत्साहन हेतु पुरस्कृत किया गया।

●

१२

राग-द्वेष की जड़ : पर कर्तृत्व की मान्यता

जो अन्य के सुख दुःख का, कर्त्ता स्वयं को मानते।
वे वस्तु के स्वातंत्र्य के, सिद्धान्त को नहीं जानते।।
पोषण किया करते निरन्तर, क्रोध-मान कषाय का।
शोषण सदा होता रहा, सुख-शान्ति सहज स्वभाव का।।

महावीर जयन्ती पर आयोजित संगोष्ठी के द्वितीय सत्र में प्रमुख वक्ता के रूप में बोलते हुए विराग ने अपना वक्तव्य अपने अनुभूत उदाहरण से प्रारंभ किया। उसने कहा – "देखो, हम सबने खासकर माँ ने पिताजी की बीमारी को ठीक करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न नहीं किए, पर क्या कर पाये हम? एलोपेथी, होम्योपेथी, नेचरोपेथी आदि सभी पेथियाँ छान मारी। आयुर्वेद, यूनानी, मालिस, एक्यूप्रेशर, एक्यूपंक्चर, आसन, प्राणायाम आदि कुछ भी तो नहीं छोड़ा। सभी को आजमा-आजमा कर देखा; पर कहीं कोई सफलता नहीं मिली।

अन्त में वस्तु-स्वातंत्र्य के सहारे और क्रमबद्धपर्याय के आलम्बन से अपनी आकुलता को कम करते हुए आर्तध्यान-रौद्रध्यान से बचने के लिए चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन, पंचपरमेष्ठियों का स्मरण और वैराग्यवर्द्धक वैराग्य भावना एवं बारह भावनाओं को हम भी पढ़ते रहे और कैसिटों के माध्यम से पिताजी को भी सुनाते रहे।

पिताजी भी शेष जीवन में समाधि की साधना करते हुए कैसिटों के साथ स्वयं भी उन्हीं पाठों को गुन-गुनाते रहे। जब स्वस्थ होने का काल पका तो बाह्य निमित्त तीर्थंकर स्तवन और अंतरंग निमित्त रूप असाता कर्म प्रकृति साता में पलट गईं। उसी समय अन्तर्मुखी उग्र पुरुषार्थ के साथ भली होनहार से ऐसा बनाव बना कि – कल महावीर जयन्ती महोत्सव की मंगल बेला में उनका गला खुल गया। उनके कंठ से संगीतमय गाथाओं

एवं स्तवन के स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगे। पास जाकर देखा तो वे महावीराष्टक बोल रहे थे, तीर्थंकर स्तवन कर रहे थे।

पिताजी की इस घटना से सिद्ध होता है कि –'किसी के करने से कुछ नहीं होता। जगत का सारा परिणमन स्वयं अपने-अपने पाँच समवायों से एवं स्वयं के स्वतंत्र षट्कारकों से होता है।'

अफसोस यह कि सामान्यजन तो स्वयं को दूसरों के सुख-दुःख का कर्ता और दूसरों को अपने सुख-दुःख का कर्ता मानकर दूसरों पर राग-द्वेष करके हर्ष-विषाद करते ही हैं, स्वयं को धर्मात्मा और ज्ञानी मानने वाले भी इस पर के कर्तृत्व की मान्यता में ही उलझे रहकर राग-द्वेष से नहीं उबर पाते। इसका मूल कारण निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की घनिष्ठता है।

इस कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध की भूल को निकालने के लिए समयसार परमागम का पूरा कर्ता-कर्म अधिकार और सर्वविशुद्ध अधिकार समर्पित है – जिसको आगम और युक्तियों के आधार से परद्रव्य के अकर्तृत्व की सशक्त चर्चा के बाद यदि हम दैनिक जीवन में २४ घंटे घटित होती घटनाओं का भी सूक्ष्म अवलोकन करें तो प्रायोगिक रूप से भी यही सिद्ध होगा कि कोई भी एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता; क्योंकि विश्व की सम्पूर्णसृष्टि आटोमेटिक स्व-संचालित है।''

मुख्य वक्ता के रूप में अपने विषय का प्रतिपादन करते हुए विराग ने अपने व्याख्यान में आगे कहा – ''समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार में वस्तुस्वातन्त्र्य या छहों द्रव्यों के स्वतंत्र परिणमन का निरूपण प्रकारान्तर से परद्रव्य के अकर्तृत्व का ही निरूपण है। यह अकर्तावाद का सिद्धान्त आगमसम्मत युक्तियों द्वारा एवं सिद्धान्तशास्त्रों की पारिभाषिक शब्दावलियों द्वारा तो स्थापित है ही, साथ ही अपने व्यावहारिक लौकिक जीवन को निराकुल सुखमय बनाने में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आगम के दबाव और युक्तियों की मार से सिद्धान्ततः अकर्तृत्व को

स्वीकार कर लेने पर भी अपने दैनिक जीवन की छोटी-मोटी पारिवारिक घटनाओं के सन्दर्भ में उन सिद्धान्तों के प्रयोगों द्वारा आत्मिक शान्ति और निष्कषाय भाव रखने की बात जगत के गले आसानी से नहीं उतरती, उसके अन्तर्मन को सहज स्वीकृत नहीं होती; जबकि हमारे धार्मिक सिद्धान्तों की सच्ची प्रयोगशाला तो हमारे जीवन का कार्यक्षेत्र ही है।

क्या अकर्तावाद जैसे संजीवनी सिद्धान्त केवल शास्त्रों की शोभा बढ़ाने या बौद्धिक व्यायाम करने के लिए ही हैं? अपने व्यवहारिक जीवन में प्रामाणिकता, नैतिकता, निराकुलता एवं पवित्रता प्राप्त करने में इनकी कुछ भी भूमिका-उपयोगिता नहीं है? यह एक अहं प्रश्न है।

जरा सोचो तो सही, अकर्तृत्व के सिद्धान्त के आधार पर जब हमारी श्रद्धा ऐसी हो जाती है कि **'कोई भी जीव किसी अन्य जीव का भला या बुरा कुछ भी नहीं कर सकता'**, तो फिर हमारे मन में अकारण ही किसी के प्रति राग-द्वेष-मोहभाव क्यों होंगे?

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि –"अकर्तृत्व की सच्ची श्रद्धा वाले ज्ञानियों के भी क्रोधादि भाव एवं इष्टानिष्ट की भावना प्रत्यक्ष देखी जाती है तथा उनके मन में दूसरों का भला-बुरा या बिगाड़-सुधार करने की भावना भी देखी जाती है – इसका क्या कारण है?"

समाधान सरल है, यद्यपि सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा सिद्धों जैसी पूर्ण निर्मल होती है, तथापि वह चारित्रमोह कर्मोदय के निमित्त से एवं स्वयं के पुरुषार्थ की कमी के कारण दूसरों पर कषाय करता हुआ भी देखा जा सकता है; पर सम्यग्दृष्टि उसे अपनी कमजोरी मानता है। उस समय भी उसकी श्रद्धा में तो यही भाव है कि – 'पर ने मेरा कुछ भी बिगाड-सुधार नहीं किया है।' अतः उसे उसमें अनन्त राग-द्वेष नहीं होता। उत्पन्न हुई कषाय को यथाशक्ति कृश करने का पुरुषार्थ भी अन्तरात्मा में निरन्तर चालू रहता है। अतः इस अकर्तावाद के सिद्धान्त को धर्म का मूल आधार या धर्म का प्राण भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वस्तुतः पर में अकर्तृत्व की यथार्थ श्रद्धा रखने वाले का तो जीवन ही बदल जाता है। वह अन्दर ही अन्दर कितना सुखी, शान्त, निरभिमानी, निर्लोभी और निराकुल हो जाता है, अज्ञानी तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता।

समयसार के अकर्तावाद का तात्पर्य यह है कि – जो प्राणी अपने को अनादि से परद्रव्य का कर्त्ता मानकर राग-द्वेष-मोह भाव से कर्मबन्धन में पड़कर संसार में परिभ्रमण कर रहा है, वह अपनी इस मूल भूल को सुधारे और अकर्तृत्व की श्रद्धा के बल से राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागता प्रगट करे; क्योंकि वीतराग हुए बिना पूर्णता, पवित्रता व सर्वज्ञता की प्राप्ति संभव नहीं है। एतदर्थ अकर्तावाद को समझना अति आवश्यक है।

वस्तुतः कर्ता-कर्म सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता ही नहीं, एक ही द्रव्य में होता है। इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य है –

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेतु तत्कर्म।
या परिणमति क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

जो परिणमित होता है, वह कर्ता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति है वह क्रिया कहलाती है, वास्तव में तीनों भिन्न नहीं है।

इस कलश से स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः कर्तृ-कर्म सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्यरूप परिणत होती है वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य है, उपादेय है।

यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो नियम से वह उनके साथ तन्मय हो जाये, पर तन्मय नहीं होता, इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है, वीतरागता प्राप्त करने के लिए अकेला अकर्ता होना ही जरूरी नहीं है; बल्कि अपने

को पर का अकर्ता जानना, मानना और तद्रूप आचरण करना भी जरूरी है। एक-दूसरे के अकर्ता तो सब हैं ही, पर भूल से अपने को पर का कर्ता मान रखा है, इस कारण अज्ञानी की अनन्त आकुलता और क्रोधादि कषायें कम नहीं होतीं। अन्यथा इस अकर्तृत्व सिद्धान्त की श्रद्धा वाले व्यक्ति के विकल्पों का तो स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थितिजन्य अपनी आकुलता कम करने के लिए वस्तु के स्वतंत्र परिणमन पर एवं उस परिणमन में अपनी अकिंचित्करता के स्वरूप के आधार पर ऐसे विचार आते हैं कि जिनसे उसकी आकुलता सहज ही कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, वह सोचता है कि –

(अ) यदि मैं अपने शरीर को अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता तो जब भी अपशकुन की प्रतीक मेरी बाईं आँख फड़कती है, उसे तुरन्त बन्द करके शुभ शकुन की प्रतीक दायी आँख क्यों नहीं फड़का लेता?

(ब) यदि मैं अपने प्रयत्नों से शरीर को स्वस्थ रख सकता हूँ तो प्रयत्नों के बावजूद भी यह अस्वस्थ क्यों हो जाता है? जब किसी को केंसर, कोढ़ एवं दमा-श्वांस जैसे प्राणघातक भयंकर दुःखद रोग हो जाते हैं तो वह उन्हें अपने प्रयत्नों से ठीक क्यों नहीं कर लेता?

(स) यदि मैं किसी का भला कर सकता होता तो सबसे पहले अपने कुटुम्ब का भला क्यों न कर लेता? फिर मेरे ही परिजन-पुरजन दुःखी क्यों रहते? मैंने अपनी शक्ति अनुसार उनका भला चाहने एवं भला करने में कसर भी कहाँ छोड़ी, पर मेरी इच्छानुसार मैं किसी का कुछ भी तो नहीं कर सका।

(द) इसीप्रकार, यदि कोई किसी का बुरा या अनिष्ट कर सकता होता तो आज संभवतः यह दुनिया ही इस रूप में न होती, सभी कुछ नष्ट-

भ्रष्ट हो गया होता; क्योंकि दुनिया तो राग-द्वेष का ही दूसरा नाम है, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका कोई शत्रु न हो; पर आज जगत यथावत् चल रहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी के भले-बुरे, जीवन-मरण व सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता नहीं है। जो होना होता है वही होता है, किसी के करने से नहीं होता।

लोक में सभी कार्य स्वतः अपने-अपने षट्कारकों से ही सम्पन्न होते हैं। उनका कर्ता-धर्ता मैं नहीं हूँ। ऐसी श्रद्धा से ज्ञानी पर के कर्तृत्व के भार से निर्भार होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेता है। यही आत्मानुभूति का सहज उपाय है।

प्रत्येक द्रव्य व उनकी विभिन्न पर्यायों के परिणमन में उनके अपने-अपने कर्ता, कर्म, करण आदि स्वतंत्र षट्कारक हैं, जो उनके कार्य के नियामक कारण हैं। ऐसी श्रद्धा का बल बढ़ने से ही ज्ञानी ज्यों-ज्यों इन बहिरंग (पर) षट्कारकों की प्रक्रिया से पार होता है, त्यों-त्यों उसकी आत्मशुद्धि में वृद्धि हो जाती है।[१]

जब कार्य होना होता है, तब कार्य के नियामक अंतरंग षट्कारक, पुरुषार्थ, काललब्धि एवं निमित्तादि पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही हैं और नहीं होना होता है तो अनंत प्रयत्नों के बावजूद भी कार्य नहीं होता तथा तदनुरूप कारण भी नहीं मिलते।

मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव से अकर्तावाद सिद्धान्त की ऐसी श्रद्धा हो जाती है कि जिससे उसके असीम कष्ट सीमित रह जाते हैं। जो विकार शेष बचता है, उसकी उम्र भी लम्बी नहीं होती।

बस, इसलिए तो आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में जीवाजीवाधिकार के तुरन्त बाद ही यह कर्ताकर्म अधिकार लिखने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया है। इसमें बताया गया है – जगत का प्रत्येक पदार्थ पूर्णतः स्वतंत्र है,

१ समयसार, गाथा ७३ की आत्मख्याति टीका

उसमें होनेवाले नित्य नये परिवर्तन या परिणमन का कर्ता वह पदार्थ स्वयं है। कोई भी अन्य पदार्थ या द्रव्य किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है।

समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार का मूल प्रतिपाद्य ही यह है कि परपदार्थ के कर्तृत्व की तो बात ही क्या कहें, अपने क्रोधादि भावों का कर्तृत्व भी ज्ञानियों के नहीं है। जबतक यह जीव ऐसा मानता है कि क्रोधादि का कर्ता व क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं, तब तक वह अज्ञानी है। तथा जब स्व-संवेदन ज्ञान द्वारा क्रोधादि आस्रवों से शुद्धात्म-स्वरूप को भिन्न जान लेता है, तब ज्ञानी होता है।

यद्यपि जीव व अजीव दोनों द्रव्य हैं, तथापि जीव के परिणामों के निमित्त से पुद्गल कर्मवर्गणाएँ स्वतः अपनी तत्समय की योग्यता से रागादि परिणामरूप परिणमित होती है। इसप्रकार जीव के व कर्म के कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि न तो जीव पुद्गलकर्म के किसी गुण का उत्पादक है और न पुद्गल जीव के किसी गुण का उत्पादक है। केवल एक-दूसरे के निमित्त से दोनों का परिणमन अपनी-अपनी योग्यतानुसार होता है। इस कारण जीव सदा अपने भावों का ही कर्ता होता है, अन्य का नहीं।

यद्यपि आत्मा वस्तुतः केवल स्वयं का ही कर्ता-भोक्ता है, द्रव्यकर्मों का नहीं, तथापि द्रव्यकर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा को सांसारिक सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है, परन्तु ऐसा कहने का कारण पर का या द्रव्यकर्म का कर्तृत्व नहीं है, बल्कि आत्मा में जो अपनी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता या अज्ञानता से राग-द्वेष-मोह कषायादि भावकर्म हो रहे हैं, उनके कारण यह सांसारिक सुख-दुख का कर्ता-भोक्ता होता है। वस्तुतः आत्मा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः वह किसी का कार्य नहीं है तथा वह किसी को उत्पन्न नहीं करता, इस

अपेक्षा वह किसी का कारण भी नहीं है। अतः दो द्रव्यों में मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

आत्मा जब तक कर्मप्रकृतियों के निमित्त से होने वाले विभिन्न पर्यायरूप उत्पाद-व्यय का परित्याग नहीं करता, उनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व की मान्यता को नहीं छोड़ता; तबतक वह अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि एवं असंयमी रहता है। तथा जब वह अनंत कर्म व कर्मफल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अहंकारादि एवं असंयमादि दोषों से निवृत्त होकर स्वरूपसन्मुख हो जाता है, तब वह तत्त्व ज्ञानी सम्यक्दृष्टि एवं संयमी होता है।

इसप्रकार विराग ने अनेक युक्तियों और आगम के प्रमाणों के आधार पर वस्तुस्वातंत्र्य के संदर्भ में – 'दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध' होता ही नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। यह भलीभाँति समझाया, जिसे सुनकर श्रोता बहुत प्रभावित तो हुए ही, लाभान्वित भी हुए। उन्होंने अभी तक ऐसे वीतरागतावर्द्धक और साम्यभावोत्पादक गंभीर व्याख्यान सुने ही नहीं थे। वे अबतक मात्र भगवान महावीर स्वामी की जीवनी और उनके अहिंसा-सिद्धान्त के नाम पर बहुत स्थूल चर्चा ही सुनते आये थे। अत· नवीन विषय सुनकर सभी श्रोता प्रसन्न थे।

आभार प्रदर्शन करते हुए संचालिका ज्योत्स्ना ने भविष्य में भी इसी तरह के लाभ की आशा और अपेक्षा की भावना व्यक्त की। अन्त में भगवान महावीर स्वामी की जयध्वनिपूर्वक सभा विसर्जित हुई।



१३

क्या मुक्ति का मार्ग इतना सहज है?

'नाच न जाने आँगन टेड़ा' मुहावरे के मुताबिक – सामान्यजनों द्वारा अपनी भूल को स्वीकार न करके – अपने दोषों को दूसरों पर आरोपित करने की पुरानी परम्परा रही है। इसी परम्परा के अन्तर्गत जीवराज की भटकन को मोहनी के माथे मड़ा जाता रहा, जबकि जीवराज के जीवन में हुए उतार-चढ़ाव में मोहनी का कोई अपराध नहीं था; क्योंकि वह तो निमित्त मात्र थी। और परद्रव्य रूप निमित्तों को तो आगम में अकिंचित्कर कहा है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की बज्र की दीवाल खड़ी रहती है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा कुछ भी नहीं करता, फिर भी मोहनी पर जो दोषारोपण किया गया, वह सर्वथा निराधार भी नहीं था; क्योंकि वह जीवराज के अपराध में सहचारी तो बनी ही थी। लोक में दोषारोपण करने के लिए सहचारी होना ही पर्याप्त कारण होता है। इस कारण लौकिक जनों द्वारा मोहनी पर कलंक का टीका लगना था सो लगता रहा।

इन मिथ्या आरोपों से त्रसित होकर कर्मकिशोर के सम्पूर्ण परिवार के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए ज्ञानियों ने कहा है कि –

"कर्म विचारे कौन भूल तेरी अधिकाई।
अग्नि सहे घन घात, लोह की संगति पाई।।

जिस तरह लोहे का साथ देने मात्र से निर्दोष अग्नि को घन की चोटें सहनी पड़तीं हैं, इसीप्रकार हे अज्ञानी! भूल तो तेरी है, तू अज्ञान के कारण परद्रव्यों से राग-द्वेष करके कर्मों को आमंत्रित करता है, कर्मों के आस्रव का कारण बनता है और दोष कर्मों के माथे मढ़ता है। जबकि ये विचारे तो जड़ हैं, इस कारण कुछ जानते ही नहीं हैं। ऐसे निर्दोष कर्मों को अज्ञानी जीव का साथ देने मात्र से गालियाँ खानी पड़ती हैं।"

अज्ञानी की मनोवृत्ति को व्यक्त करते हुए आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में तो यहाँ तक लिखा है कि '**अज्ञानी जीव स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मों के माथे मढ़ता है सो यह अनीति तो संभवै नाहीं।**'[१]

एक दिन कर्मकिशोर ने सोचा – "जीवराज पहले से बहुत कुछ बदला-बदला सा लगता है, उसने मोहनी का साथ तो छोड़ ही दिया और अपनी पूर्व पत्नी समताश्री को पुनः अपना लिया है। मोहनी की संतान अनुराग, हास्य, रति और माया आदि से भी सम्बन्ध विच्छेद का संकल्प करके पुत्र विराग और पुत्री ज्योति से स्नेह करने लगा है।

अब वह बहुत शान्त, सुखी और सदाचारी हो गया है। एक दिन उससे मिलकर मैं यह जानना चाहता हूँ कि जब वह बीमार था तब उसकी मनःस्थिति कैसी थी। वह अपनी भटकन के बारे में क्या सोचता था और अब उसकी भावी जीवन के प्रति क्या-कैसी योजना है? वह अपना शेष जीवन किस तरह जीना चाहता है?"

यह सब जानने के लिए कर्मकिशोर जीवराज के पास पहुँचा। यद्यपि जीवराज की भटकन में और बीमारी में कम-बड़ रूप से कर्मकिशोर के पूरे परिवार का निमित्तपना था; फिर भी उसने कर्मकिशोर के प्रति साम्यभाव रखा और उसका स्नेहपूर्वक स्वागत किया; क्योंकि अब उसे यह जानकारी हो गई थी कि कर्मकिशोर और इनके परिवार की कोई गल्ती नहीं है। मैं स्वयं ही अपनी भूल से भटका था और स्वयं ही अपनी भूल सुधार कर सही रास्ते पर आया हूँ।

जीवराज से स्नेह पाकर कर्मकिशोर गद्-गद् हो गया; क्योंकि उसे जीवराज से ऐसे स्नेह की आशा नहीं थी। वह सोचता था कि "मेरे कारण ही तो प्रारंभ में इसकी ऐसी दुर्दशा हुई थी, अतः उससे मुझे उपेक्षा ही मिलेगी;" पर ऐसा नहीं हुआ। इसकारण वह मन ही मन बहुत खुश था।

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३१२

कर्मकिशोर ने जीवराज से पूछा – "जीवराज! मेरी बहिन मोहनी और उसके साथ वेदनी आदि ने आपको इतना परेशान किया, आपकी बदनामी में कारण बनी, छलबल से आपका धन अपहरण किया और जब आपकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई तो ऐसी दुर्दशा की हालत में आपसे मुँह मोड़ लिया, आपके साथ दुर्व्यवहार करने लगी' आपकी उपेक्षा कर दी। फिर भी आप हम लोगों के साथ ऐसा सद्व्यवहार कर रहे हो? ऐसा सम्मान हमारे प्रति आपके हृदय में है, ऐसा साम्यभाव ! ऐसी सहज उदारता की संभावना हमें आपसे नहीं थी। हम डर रहे थे कि पता नहीं आप हमारे साथ कैसा सलूक करेंगे? हम सोच रहे थे – आप हमसे पूछेंगे – कहो, कर्मकिशोर! तुम्हारे साथ कैसा सलूक किया जाय? परन्तु आपने ऐसा कुछ नहीं किया, इसका राज क्या है? पहले तो मैं तुमसे यह जानना चाहता हूँ?

मोहनी ने तो मुझे तुमसे मिलने से ही मना किया था कि 'मत जाओ अपमानित होने के लिए। वह तुम्हें धक्का मारकर निकलवा देगा। पता नहीं इन मनुष्यों की अपने बारे में ऐसी गलत धारणा क्यों है? गल्तियाँ खुद करते हैं, दोष दूसरे के माथे मढ़ते हैं?'

मोहनी ने यह भी बताया कि "देखो न! मैंने तो उसे बुलाया नहीं था, स्वयं ने ही मुझ पर मोहित होकर अपनी समता जैसी सुशील सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्न धर्मपत्नी को छोड़कर मुझे अपनाया। न केवल सर्वसाधारण की तरह मात्र सम्पर्क किया, बल्कि मेरे प्रति उसके मन में ऐसा स्नेह उमड़ा, पागलन छाया कि वह सब सुध-बुध ही खो बैठा। उसका ऐसा स्नेह और आकर्षण देखकर मैंने भी सब ओर से अपना ध्यान हटाकर उसे ही अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। मुझ अनजान को क्या पता था कि ये मनुष्य ऐसे भावुक और धोखेबाज होते हैं? कुछ दिनों बाद जब मैं उसके कई बेटे-बेटियों की माँ बन गई तो वह पता नहीं किसके कहने-सुनने से, किसके बहकावे में आकर पुनः अपनी पूर्व पत्नी समता को सोते-सोते में याद करने लगा। तब मैंने ऐसा अनुभव किया कि 'मेरी तरफ इसकी रुचि

कम होती जा रही है और समता की ओर उसका आकर्षण पुनः बढ़ रहा है तो मैं उदास एवं हताश हो गई। यह तो आप जानते ही हैं कि-' जिसतरह एक म्यान में दो तलवारें नहीं समातीं, उसी तरह मैं और समता जीवराज के हृदय में एक साथ नहीं रह सकते थे। अतः मुझे जीवराज से उपेक्षा ही करनी पड़ी और मैं उससे नाता तोड़कर पुनः अपने पुराने रूप में आ गई।''

यहाँ ज्ञातव्य है कि कर्म की जाति-विरादरी में अनेक पुरुषों से प्रेम संबंध जोड़ना-तोड़ना अपराध नहीं माना जाता। इस कारण मोहनी द्वारा जीवराज की उपेक्षा करने से कर्मकिशोर को अटपटा नहीं लगा।

मोहनी ने अपने भाई कर्मकिशोर से यह भी कहा कि – ''तुम्हारी मित्रता भले ही अनादिकाल से है; पर अब शीघ्र ही छूटने वाली हैं; क्योंकि अब जीवराज अपनी पूर्व पत्नी समताश्री, पुत्री ज्योत्स्ना और पुत्र विराग के कहने में आ गया है। उसे हमसे मुक्त होने का मार्ग मिल गया है। अतः क्यों न तुम्ही उसका साथ छोड़ दो।''

कर्मकिशोर को बहिन मोहनी की बातें जँच तो गई; परन्तु वह जीवराज से एक बार साक्षात्कार करके उसकी मनःस्थिति स्वयं समझना चाहता था एतदर्थ उसने निम्नोक्त प्रश्न किए।

कर्मकिशोर के प्रश्नों के उत्तर में जीवराज ने कहा – ''कर्मकिशोर आप ही क्या? जितने बाह्यदृष्टि देखने वाले हैं, वे सब भी यही कहते हैं कि मोहनी ने जीवराज को मोहित करके अपने मोहजाल में फँसा लिया और उसकी यह दुर्दशा कर दी और अन्त में मेरी उपेक्षा की, अनादर किया। इतना ही नहीं मुझे घी की मक्खी की भाँति निचोड़ कर फैंक दिया; परन्तु उनका यह कहना और सोचना सर्वथा असत्य है तथा मोहनी ने जो आपसे कहा, वही बात सही है। मोहनी ने मुझे मोहित नहीं किया, बल्कि मैं ही अपने सत्पथ से भटक कर उस पर मोहित हुआ था। उसमें उसकी कतई कोई गल्ती नहीं है। मोहनी का तो स्वभाव ही सम्मोहन में निमित्त बनना है; परन्तु जो अपनी खोटी होनहार से और अपनी तत्समय

की उपादान योग्यता से मोहित होता है, मोहनी मात्र उसी के सम्मोहन में निमित्त बनती है। जिसकी भली होनहार है, वह मोहनी के सुन्दर रूप, आकर्षक व्यक्तित्व और लुभावने हाव-भाव को देखकर भी उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। यदि मोहनी का वश चलता होता, वह आकर्षित करने की क्षमतावान होती तो अच्छे-अच्छे ऋषिमुनि, व्रती-ब्रह्मचारी भी उससे नहीं बच पाते? सेठ सुदर्शन को रिझाने की क्या मोहनी ने कोई कम कोशिश की थी; परन्तु वे विचलित नहीं हुए सो नहीं हुए। अतः मोहनी को दोष देना मुझे बर्दास्त नहीं है। मेरे भ्रष्ट होने में सन्मार्ग से भटकने में शतप्रतिशत मेरी ही भूल है, मोहनी निमित्त मात्र है। और वह अपने पर्यायगत स्वभाव को भी तो नहीं छोड़ सकती। मेरा उससे यह कोई प्रथम परिचय नहीं है। पहले भी इस पर मोहित होता रहा हूँ। अतः अकेले उस पर दोषारोपण करना बिल्कुल व्यर्थ है।''

कर्मकिशोर ने अगले प्रश्न की भूमिका बनाते हुए कहा – ''यह तो आपका कहना सही है कि मोहनी का कोई दोष नहीं है; परन्तु उसकी निमित्तता में जो तुम्हें मानसिक संताप और देहिक दुःख हुआ, उस विकट एवं विषम परिस्थिति में आपकी मनःस्थिति कैसी रही? जब पारिवारिक परेशानियाँ, सामाजिक समस्यायें और केंसर रोग की असह्य शारीरिक वेदना से तुम जूझ रहे थे, तब किस विचारधारा के आलबन से आप स्वयं को संभाल सके, मन को संतुलित रख पाये? आखिर मोहनी ने तुम्हें मँझधार में तो छोड ही दिया था न! ऐसी स्थिति में सामान्य जन तो बुरी तरह घबरा जाते हैं, होश-हवास खो बैठते हैं, हृदयाघात से उनका प्राणान्त तक हो जाता है, परन्तु आपके माथे पर तो एक सिकुड़न तक दिखाई नहीं दी।

मुझसे आपकी वह दुःखद स्थिति छिपी हुई नहीं है। मैं उन सब हालातों का प्रत्यक्षदर्शी रहा हूँ। जब तुम रोग शैया पर पड़े मरणासन्न स्थिति में थे तब मेरी बेटी असाता तुम्हारे साथ ऐसी आँख मिचौनी कर रही थी कि तुम्हारे परिजन-पुरजन तो तुम्हारे जीवन से निराश हो ही गये थे, डॉक्टरों ने भी भगवान का नाम सुनाने की सलाह दे दी थी; फिर भी

तुम्हारे चेहरे पर आते-जाते भावों से तुम्हारे मुखमंडल पर निर्भयता, निशंकता एवं प्रसन्नता भासित हो रही थी। मैं यह जानना चाहता हूँ – इसका क्या रहस्य है?"

कर्मकिशोर ने कहा – "मुझे आश्चर्य इस बात का है कि – तुम अत्यन्त पीड़ाप्रद रोग से घिरे थे। तुम मौत के मुख में भी मृत्युभय से आतंकित नजर नहीं आये। भयंकर वेदना से भी तुम भयभीत नहीं हुए, वह वेदना तुम्हारे अन्तर्मुखी उपयोग को विचलित नहीं कर पायी। समाधिसाधना में तुम पूर्णरूपेण सफल हुए, जो आदर्श बातें अब तक केवल शास्त्रों में पढ़ी थी, वे तुम्हारे जीवन में प्रत्यक्ष देखकर सुखद आश्चर्य हो रहा है। यह सब कैसे हुआ? मेरी यह जिज्ञासा है। तुम्हारे पास ऐसा कौन सा महामंत्र है, जिसके अवलम्बन से – ऐसी विकट परिस्थितियों में तुम प्रसन्न रहे?

जीवराज ने अपने सप्तभयों से मुक्त रहने का रहस्योद्घाटन करते हुए बताया। "कर्मकिशोर! तेरी जिज्ञासा की पूर्ति करने के पहले मैं मोहनी और समता को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। उन दोनों का मेरे ऊपर बहुत बड़ा उपकार है।

निःसंदेह मोहनी ममता की मूर्ति है, उसने अपने कर्तव्य के निर्वाह में कोई कोर-कसर नहीं रखी। वह जब तक मेरे साथ रही, पूर्ण समर्पण के साथ मेरी बनकर रही। वह अपने कर्तव्य के प्रति पूर्ण ईमानदार है, उससे मुझे कोई शिकायत नहीं है। मेरी ही शतप्रतिशत भूल रही जो मैं समता जैसी सती सावित्री को छोड़कर मोहनी पर मूर्छित हो गया। मैं उसे इस कारण धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उसके द्वारा की गई उपेक्षा अस्वाभाविक नहीं है कोई भी मोहनी जैसी नारी उस परिस्थिति में वही करती, जो मोहनी ने किया और उसकी उपेक्षा मेरे लिए वरदान बन गई। यदि मोहनी उपेक्षा नहीं करती तो संभव था कि मैं सन्मार्ग में नहीं आता।

समता को तो मैं भव-भवान्तरों में भी नहीं भूलूँगा; क्योंकि उसने तो मेरा मनुष्यभव ही सार्थक कर दिया है। उसने मेरे द्वारा दिये गये दुःखों को सर्वथा भुलाकर एवं मेरे द्वारा किए दुर्व्यवहार की किंचित् भी परवाह न

करके कोई प्रतिक्रिया प्रगट किए बिना मुझे निस्वार्थ भाव से पुनः अपना लिया। यह कोई साधारण नारी का काम नहीं है। वह सचमुच महान है। वह मेरी पत्नी होकर भी अपने सद्गुणों से मेरे लिए श्रद्धेय बन गई है।

समता में एक सुयोग्य पत्नी के सभी गुण विद्यमान हैं। किसी कवि ने सुयोग्य पत्नी के गुणों का बखान करते हुए ठीक ही कहा है –

"कार्येषु मंत्री भोज्यसु माता।
सेवासु दासी भोग्येसु रम्भा।।

अर्थात् योग्य पत्नी पति के कार्यों में मंत्री का काम करती है, सही सलाह देती हैं; माता की भाँति स्नेह से भोजन कराती हैं। दासी की भाँति सेवा में तत्पर रहती है और लौकिक सुखों में पत्नी धर्म निभाती हैं। धर्म के कार्यों एवं परोपकार में भी समता अग्रगण्य है। इसतरह सभी उपर्युक्त गुण समता में कूट-कूट कर भरे हैं।"

जीवराज ने आगे कहा – "कर्मकिशोर! तुझे भलीभाँति ज्ञात है कि मैं आजकल वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकांतमयी धर्म का कट्टर व परम भक्त हो गया हूँ। इसकी वजह यह नहीं कि उनकी कृपा से मेरे दुःख दूर हो गये; बल्कि समता ने जब मुझे देव के स्वरूप को समझाते समय सर्वज्ञता का स्वरूप समझाया और बताया कि सर्वज्ञता ही वीतराग धर्म प्राप्ति का प्रबल साधन है। इस अपेक्षा सर्वज्ञदेव ही धर्म के प्राण हैं। सच्चे देव की सर्वज्ञता की श्रद्धा से हमें वीतरागता रूप धर्म कैसे प्रगट होता है? राग-द्वेष कैसे कम होते हैं? तथा कषायें कैसे कृश होती हैं? और निराकुल सुख-शान्ति कैसे प्राप्त होती है? – यह सब समझाया तो मेरी तो आँखें फटीं की फटीं रह गईं। – ऐसा मैंने कभी सोचा ही नहीं था।

तीर्थंकर भगवान वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी होते हैं – ऐसी परिभाषायें तो बचपन में पढ़ीं थीं; परन्तु उनकी श्रद्धा से अपनी आत्मा में सुख-शान्ति का स्रोत कैसे बहने लगता है? इसकी खबर मुझे नहीं थी – ऐसा किसी ने बताया ही नहीं। इस दृष्टि से समता मेरी गुरु भी बन गई।

समता ने संकट के समय धैर्य बंधानेवाले भैया भगवतीदासजी का निम्नांकित भजन सुनाते हुए कहा –

"जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरा रे!
अनहोनी होसी नहिं कबहूँ, काहे होत अधीरा रे!
समयो एक घटे नहिं बढ़सी, जो सुख-दुःख की पीरा रे!
तू क्यों सोच करे मन मूरख होय वज्र ज्यों हीरा रे!!'

तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञदेव के केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित हुए समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय के अनुसार जिस जीव का जब जो सुख-दुःख, जीवन-मरण, असह्य पीड़ा आदि होनेवाले हैं, वे तो होकर ही रहेंगे, उसे कोई टाल नहीं सकता। इस श्रद्धा और विश्वास के बल पर सभी प्रकार के दुःख सहने की सामर्थ्य सहज में प्रगट हो जाती है।

कविवर बुधजनजी ने भी उपर्युक्त बात का ही पोषण करते हुए अपने आध्यात्मिक भजन में पाँच समवायों के माध्यम से जो सशक्त बात कही, उसने तो हृदय को ही हिला दिया। वे कहते हैं –

जाकरि जैसे जाहि समय में जो हो तब जा द्वार।
सोबनिहै टरहै कछु नाहीं, करलीनो निरधार॥
हम को कछु भय ना रे! जान लियो संसार॥

उपर्युक्त कथन में ज्ञानी की निर्भयता का आधार भी यही है कि – मैंने संसार के स्वतंत्र परिणमन का स्वरूप अच्छी तरह से समझ लिया है। इस लोक में जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस समय में जिसविधि से जिसके द्वारा जैसी होनी होती है, उसी द्रव्य की वही पर्याय उसी समय में उसी विधि (पुरुषार्थ) पूर्वक, उसी के निमित्त द्वारा वैसी ही होती है। उसे कोई टाल नहीं सकता। आगे-पीछे नहीं कर सकता। सुख-दुःख, जीवन-मरण सब कुछ निश्चित है। यह मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। अतः अब मुझे कुछ भी भय नहीं है।

मैंने अब इसी वस्तुस्वरूप के आधार पर सात भयों से निर्भय रहकर सम्पूर्ण प्रतिकूलताओं को सहजता से सहन कर लिया है।

इसप्रकार समता ने मुझे सर्वज्ञता के आधार पर निर्भय रहने का महामंत्र तो दिया ही है; साथ ही कार्य सम्पन्न होने के स्वतंत्र षट्कारकों, चार अभावों, पाँच समवायों का स्वरूप समझाकर पर के कर्तृत्व से निर्भार भी किया है, पराधीनता से छुटकारा भी दिला दिया है।"

कर्मकिशोर ने कहा – "जीवराज! तुमसे यह सब सुनकर मैं – असमंजस में पड़ गया हूँ। तुम्हारा-हमारा अनादि का साथ था। लगता अब वह साथ शीघ्र ही छूटने वाला है। इतना दीर्घकालीन साथ-साथ छूटने का गम होना तो स्वाभाविक ही है, परन्तु तुम्हें निराकुल सुख की प्राप्ति होगी। संसार के दुःखों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाओगे। अनन्तगुण प्रगट हो जायेंगे, सर्वज्ञता प्रगट होने से लोकालोक को एक साथ जानने की सामर्थ्य प्रगट हो जायेगी, परमात्मा बनकर जगत पूज्य हो जाओगे – इसका भारी हर्ष है।

हमारा क्या? हमें तो अनन्त जीवों का साथ सदा बना ही रहता है। हम तुम्हें सहर्ष विदाई देंगें। तुम्हारे कल्याणकों के जोर-शोर से महोत्सव मनायेंगे। अब तुम जब तक संसार में रहोगे, यहाँ भी तुम्हारी सेवा में तत्पर रहकर तुम्हें संसार के एक से बढ़कर एक सुखद संयोग जुटायेंगे। हमें ऐसा मौका कहाँ मिलता है। बहुत कम जीव ऐसा सम्यक् पुरुषार्थ करते हैं। अधिकांश तो चौरासी लाख योनियों में ही जनम-मरण करते रहते हैं। धन्य है तुम्हें और तुम्हारी पत्नी समताश्री को, जिन्होंने मुक्तिमहल के नींव का शिलान्यास करने का संकल्प कर लिया है।"

जीवराज ने कर्मकिशोर से अपनी प्रशंसा सुनकर कहा – "भैया! यह तो तुम्हारा बढ़प्पन है, जो हमारे बारे में ऐसा कहते हो। हमने ऐसा किया ही क्या है? बस, मात्र अपनी शक्ति को ही तो जाना-पहचाना है। देखो तो सही! राई की ओट में पहाड़ था। मेरी समझ में अब आ रहा है कि **'मुक्ति का मार्ग कितना सरल है, कितना सहज है? वस्तुतः मुक्त होने के लिए बाहर में तो कुछ नहीं करना है। पर में कुछ भी करने में**

तो धर्म है ही नहीं। पर से तो मात्र हटना है और स्व में मात्र डटना है, मात्र इतना सा काम करना है। 'पर से खस, स्व में बस, आयेगा अतीन्द्रिय आनन्द का रस, इतना कर तो बस' अर्थात् धर्म प्राप्त करने के लिए इतना सा काम करना ही पर्याप्त है।

आज तक यह नहीं जाना था, इस कारण यह सब झमेला था। खैर! जो होना था, वही हुआ, इसका भी क्या विकल्प करना।

कर्मकिशोर ने अन्तिम प्रश्न का स्मरण करते हुए जीवराज से कहा – "अभी तक तो सब बातों-बातों में हुआ। अब तुम यह बताओ कि तुम इन सुनहरे स्वप्नों को साकार कैसे करोगे? मुक्ति का महल बनाने के लिए तुम्हारे पास ठोस आधार क्या है? तुम्हारी भावी योजना क्या है? और मैं तुम्हारे किस काम आ सकता हूँ? मैं तुम्हारे विचारों से प्रसन्न हूँ, सहमत भी हूँ तथा मैं तुम्हारे इस काम में सहयोग भी करना चाहता हूँ? तुम मुझे मात्र अपना शत्रु ही मत समझो। मैं मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में सहयोगी की भूमिका भी निभाता रहा हूँ।

भगवान के भक्त तो भगवान के सामने ही मेरे सहयोग की दिल खोलकर प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं –

'अति पुण्य उदय मम आया, प्रभु तुमरा दर्शन पाया' यदि मैं पापियों को दुर्गति में ले जाकर दण्डित करता हूँ तो धर्मात्माओं को आत्मकल्याण निमित्तभूत देव-शास्त्र-गुरु का सान्निध्य भी प्राप्त करता हूँ अतः जहाँ तुम्हें मेरे सहयोग की जरूरत महसूस हो, मैं तुम्हारा सहयोग करने को तत्पर हूँ।

जीवराज ने कर्मकिशोर के सहयोग करने की भावना का आदर करते हुए अपनी भावी योजनाओं की रूपरेखा बताते हुए कहा – "यद्यपि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, यह मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है; परन्तु सीढ़ी के पूर्व नींव के पत्थर का शिलान्यास करना आवश्यक है, जो कि 'वस्तुस्वातंत्र्य' का सिद्धान्त है। नींव के पत्थर की पहचान या परिचय के

लिए सर्वप्रथम वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अनेकान्तमयी धर्म की यथार्थ श्रद्धा आवश्यक है। इनकी यथार्थ श्रद्धा के लिए पहले देव-शास्त्र-गुरु का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है; क्योंकि इनके जाने बिना श्रद्धान किसका करें। इन्हें जानने के लिए व्यवस्थित बुद्धि होना जरूरी है।

इन सबके लिए दुर्व्यसनों का त्याग अनिवार्य है। अतः सर्वप्रथम हमें बुद्धिपूर्वक सात व्यसनों का त्याग, अष्ट मूलगुणों का धारण, नित्यदेवदर्शन, नियमित स्वाध्याय और अहिंसक आचरण करना आवश्यक है।''

जीवराज ने कहा – ''यद्यपि ये क्रियायें धर्म नहीं है, मुक्ति महल के नींव के पत्थर नहीं हैं। इन सबसे कर्मकिशोर! तुम्हारा परिवार ही बढ़ेगा – यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ, परन्तु मैं तुम्हारे परिवार की प्रकृति को अब अच्छी तरह पहचानने लगा हूँ। उन सबका काम तो जो/जैसा मैं अपनी स्वयं की योग्यता से करता हूँ अथवा जैसा जीव भला-बुरा अपने हिताहित के काम करता है, उसमें अनुकूल-प्रतिकूल निमित्त बन जाना तेरे परिवार की प्रकृति है। अतः यदि मैं धर्माचरण रूप कार्य करूँगा तो तेरा परिवार मुझे उसमें भी अनुकूल बाह्य संयोग मिलाने में निमित्त बनेगा।''

यह समझाकर जीवराज ने कर्मकिशोर को अपनी भावी योजना में धर्माचरण को न केवल प्राथमिक आवश्यकता बताया बल्कि धर्माचरण करने की आद्योपान्त रूपरेखा भी बताई। धर्माचरण में सामूहिक स्वाध्याय कर सर्वाधिक समय देने का संकल्प किया; क्योंकि स्वाध्याय के द्वारा ही तो मुक्तिमहल की नींव के पत्थर का शिलान्यास संभव हो सकेगा।

जीवराज ने कर्मकिशोर के अन्तिम प्रश्न वेदनाजनित भय और आर्तध्यान से किस आधार से बचने के इस अन्तिम प्रश्न के उत्तर में कहा – ''कि जब मुझे शारीरिक रोग के कारण असह्य वेदना होती तब मैं सोचता – 'भगवान आत्मा तो आधि-व्याधि जनित पीड़ा से सर्वथा पृथक ही है। आत्मा राग व रोग दोनों से पृथक ही है। इसकारण वेदना होते हुए भी वेदना जनित भय नहीं था। और शरीर तो व्याधि का ही

मन्दिर है, रोगों का ही घर है। इसके एक-एक रोम में ९६-९६ रोग हैं। इस कारण रोगों से बचने का तो एकमात्र उपाय देहातीत होना है। जब तक संसार में जन्म-मरण है तब तक कोई भी इन व्याधियों से नहीं बच सकता।

राजा श्रीपाल और चक्रवर्ती सनतकुमार जैसे पुण्य पुरुष कोढ़ से पीड़ित रहे तद्भव मोक्षगामी उपसर्गजयी मुनि पुंगव सुकमाल, सुकौशल का आत्म साधना की दशा में सियाल और शेरनी ने खाया। उन सब पुण्य पुरुषों की अपेक्षा हमें क्या दुःख है? कुछ भी नहीं। यही सब सोचकर समता रखता था।

यह भी विचार आता था कि यह तो क्षणिक पर्याय है, एक क्षण में पलटेगी और पीड़ा कम हो जायेगी। इस आशा में वह पीड़ा सह लेता था। अधिकांश तो उस पीड़ा पर से उपयोग हटाने हेतु देहातीत भगवान की भक्ति के गीत गुन-गुनाता रहता, स्तोत्र स्तुतियाँ पढ़ा करता। सिद्ध भगवन्तों की पूजा-पाठ किया करता। यद्यपि वेदना से बचने का सबसे सशक्त साधन स्वाध्याय है, परन्तु वह समता के द्वारा संचालित सामूहिक स्वाध्याय में तो सम्मलित नहीं हो पाता; फिर भी उनके कैसिट सुनकर साम्य भाव से समय का सदुपयोग करता।

बस इसी तरह धीरे-धीरे रोग क्षय होता गया, साथ ही राग भी क्षीण होता रहा और अब ऐसा महशूस करने लगा कि – "मैं पूर्ण तन्दुरुस्त और श्रद्धा से पूर्ण स्वस्थ हूँ।" चारित्रगुण में विशुद्धि की कमी के कारण अभी मुनिश्री सुकुमाल और मुनिश्री सुकौशल की श्रेणी में नहीं आ पा रहा हूँ; परन्तु भावना यही है कि –

कब धन्य सुअवसर पाऊँ जब निज में ही रम जाऊँ

तथा प्रतीक्षा है कि – 'वह धन्य घड़ी कब आयेंगी, जब मैं मुनिराज बनके वन में विचरूँगा।

जीवराज के इस प्रकार के उत्तम विचारों से कर्मकिशोर न केवल प्रभावित हुआ, उसकी आँखें आसुओं में भीग गई। उसने धन्यवाद देते हुए आंसुओं की बूँदों से उसके चरणों का प्रक्षाल किया और श्रद्धाभक्ति से नमन कर जीवराज को आश्वस्त किया कि जब तक आप इस संसार में है, हमारी पुण्य की पार्टी आपकी सेवा में सदा समर्पित हैं, आप हमें सेवा का अवसर प्रदान करते रहें। हमारी पार्टी आपके अनुकूल सुखद संयोग मिलाते ही रहेगी।

इसप्रकार जीवराज और कर्मकिशोर के सुखद-संवाद के साथ बात पूरी हुईं।

अधिकांश धर्मप्रेमी इतना तो अनेक बार कर चुके; फिर भी अब तक उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ा; क्योंकि उनकी भूल यह होती है कि वे इस प्राथमिक पृष्ठभूमि को ही धर्म की क्रिया मानकर संतुष्ट हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ जैसे कोई कृषक खेत को जोतें, उसकी घास उखाड़े, खाद-पानी डालें, चारों ओर बाढ़ लगाये। इसतरह खेत को बीज बोने योग्य बनाकर भी उसमें बीज डालना भूल जाये तो क्या उसे समय पर फसल (अनाज) की प्राप्ति होगी? ठीक उसी प्रकार जीव प्राथमिक सभी धर्माचरण करे और स्वाध्याय से प्राप्त होने योग्य वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को न समझे। नींव के पत्थर का शिलान्यास ही न करे तो मुक्ति का महल किसके आधार पर खड़ा करेगा?

वस्तुस्वातंत्र्य का सिद्धान्त एवं उसके पोषक कारण-कार्य के चार अभाव, पाँच समवाय, षट्कारक आदि ही तो वे आधार शिलायें हैं, जिसपर मोक्षमहल का निर्माण होता है। अत. इन सबको जानकर श्रद्धान करना एवं तदनुकूल धर्माचरण करना ही तो धर्म का मूल है। इनकी यथार्थ प्रतीति से उपयोग की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होने लगेगी, फिर हम समस्त कर्तृत्व के भार से निर्भार हो जायेंगे।

वस्तुतः यह धर्माचरण साधन है, साध्य नहीं है। साध्य तो एकमात्र शुद्धात्मा, कारण परमात्मा है, एतदर्थ मुक्तिमहल के नींव के पत्थर वस्तु स्वातंत्र्य का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान होना हमारी प्राथमिक आवश्यकता है। उसकी प्राप्ति हेतु जो भी त्याग करना होगा हम करेंगे और इस जीवन में मुक्ति महल का शिलान्यास करके ही दम लेंगे।

समता जीवराज की अपेक्षा धर्म के क्षेत्र में बहुत आगे हैं, उसे बचपन से ही धार्मिक संस्कार मिले हैं। उसने नियमित सामूहिक स्वाध्याय में सम्मलित होकर खूब तत्त्वाभ्यास किया है। अतः वह अपने विचारों में सदैव दृढ़ रही है। इतना होते हुए भी उसे अपने ज्ञान का किंचित् भी गुमान नहीं है। वह मधुरभासी तो है, लोक व्यवहार में भी चतुर है। अपने से बड़े सम्माननीय पति, सास, श्वसुर आदि पारिवारिक जनों की मान-मर्यादा का पूरी तरह ध्यान रखती है।

जीवराज को धर्मज्ञान की शिक्षा अपनी धर्मपत्नी समता से ही मिली है, अतः उसे अपनी पत्नी को भी गुरु का दर्जा देने में, गुरु का आदर देने में जरा भी संकोच नहीं है। वह इस विषय में बहुत खुले विचारों का व्यक्ति है। अतः समता और जीवराज एक-दूसरे को खूब सम्मान देते हैं। एक दूसरे के साथ विचार-विमर्श करके धर्मप्रचार की नई-नई योजनायें बनाते हैं।

॥ॐ नमः सिद्धेभ्यः॥



परिशिष्ट

वस्तुस्वातंत्र्य एवं उसकी सिद्धि में हेतुभूत विषयों के कुछ महत्वपूर्ण आगम आधार

वस्तुस्वातंत्र्य सम्पूर्ण जैन वांगमय का ही एक (पर्यायवाचक) नाम है; क्योंकि इस सिद्धान्त में ही जैनवांगमय में प्रतिपादित छहों द्रव्य, उनके अनन्तगुण एव उनके स्वतंत्र परिणमन के हेतुभूत कारण-कार्य, कर्ता-कर्म, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, चार अभाव, पाँच समवाय, षट्कारक, सात तत्त्व, नव पदार्थ के रूप में सम्पूर्ण विश्व समाहित है। और यही मुख्यतया सम्पूर्ण वांगमय का वह प्रतिपाद्य विषय है,जिससे वीतराग धर्म की उपलब्धि सहज हो जाती है।

वस्तुस्वातंत्र्य किसी दर्शन विशेष की अवधारणा या विचार मात्र नहीं है, बल्कि यह वस्तुस्थिति है, वास्तविक वस्तुगत विश्वव्यवस्था है। यह वस्तु व्यवस्था अनादि निधन, स्वाधीन, स्वतंत्र, स्वावलम्बी एवं स्वयं संचालित है।

उपर्युक्त वस्तुस्वातंत्र्य के यथार्थ निर्णय और सम्यक्श्रद्धा से आध्यात्मिक लाभ यह है कि जो जीव अब तक स्वयं को पर का कर्ता और पर को स्वयं के सुख-दुःख का दाता मानकर राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो पा रहे थे तथा इस कर्तृत्व के भार से निर्भार होकर अन्तर्मुख नहीं हो पा रहे थे, वे इस सिद्धान्त की यथार्थ समझ से कर्तृत्व के भार से मुक्त होकर आत्मा का ध्यान कर अल्पकाल में ही स्वयं परमात्म पद प्राप्त कर सकते हैं। आगम इसका साक्षी है। वस्तु स्वातंत्र्य के साधक कारणों के कतिपय आगम उल्लेख इसप्रकार हैं –

वस्तु स्वातंत्र्य सिद्धान्त आगम के आलोक में :– 'वस्तुस्वातंत्र्य' सिद्धान्त के संदर्भ में **पंचाध्यायी** पूर्वार्द्ध गाथा १४३ में 'वस्तु' शब्द के पर्यायवाची नामों में वस्तु, सत्ता, द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, अर्थ, सामान्य, अन्वयी, धर्मी आदि को एक ही अर्थ का वाचक कहा है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में सत् को अस्तित्व का सूचक कहा है तथा नियमसार गाथा ३४ की तात्पर्यवृत्ति टीका में अस्तित्व को सत्ता कहा है और पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध गाथा ८ में 'सत्तालक्षण युक्त वस्तु को अनेक विशेषताओं से युक्त माना है जो वस्तु के स्वतंत्र स्वरूप का बोध कराता है।

इसी ग्रन्थ में तत्काल बाद गाथा ९ से १४ में यह कहा है कि 'वह सत्ता विनाश रहित अनादि है, अनिधन है, स्व-सहाय है और निर्विकल्प है। इसप्रकार सत्ता या द्रव्य उक्त लक्षणों से युक्त होने से पूर्णतया स्वतंत्र्य व स्व-सहाय है। तथा ये छहों द्रव्य एक साथ आकाशद्रव्य के लोकाकाश में अपने-अपने स्व-चतुष्ट्य के साथ रहते हुए स्वतंत्र रूप से अपना-अपना कार्य करते रहते हैं।

कर्त्ता-कर्म :– समयसार परमागम का कर्त्ता-कर्म अधिकार और सर्वविशुद्ध अधिकार में समस्त पर-कर्तृत्व का निषेध एवं स्व-कर्तृत्व का ही समर्थन हैं।

प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वयं कर्त्ता है। उसके परिणमन में पर का रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। स्वयं का कर्तृत्व होने पर भी अपने कर्तृत्व का भार बिल्कुल नहीं है; क्योंकि वह परिणमन भी सहज है।

कर्त्ता का अर्थ :– व्याकरण शास्त्र में कर्त्ता का तात्पर्य है 'कार्य का जनक' है, पाणिनि व्याकरण में 'स्वतंत्रः कर्त्ता' और कातंत्र व्याकरण सूत्र ३८० में 'यः करोति स कर्त्ता' अर्थात् जो स्वतंत्रतापूर्वक कार्य को करे या जो क्रिया का जनक हो, वह कर्त्ता है।

● समयसार कलश ५१ में अमृतचंद ने कर्त्ता का स्वरूप इस प्रकार लिखा है कि – 'यः परिणमति स कर्त्ता' अर्थात् जो स्वयं कार्यरूप परिणमित हो वह कर्त्ता है।

● प्रवचनसार गाथा १८४ की तत्त्व प्रदीपिका टीका में इस प्रकार कहा है कि – 'स्वतंत्रः कुर्वाणस्तस्य कर्त्ता अवश्यं स्यात्' अर्थात् वह उसको (कार्य को) स्वतंत्रतापूर्वक करता हुआ उसका कर्त्ता अवश्य है। जैसे – मिट्टी घट की कर्त्ता है और घट उसका कर्म है; क्योंकि मिट्टी स्वतंत्रतया घटरूप परिणमन करती है।

कर्म का अर्थ :– कातंत्र व्याकरण सूत्र ३८१ में कर्म का अर्थ इस प्रकार परिभाषित किया है कि – 'यत्क्रियते तत्कर्म' अर्थात् कर्त्ता के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है।

● राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र १ के अनुसार – 'कर्तु क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म' कर्त्ता की क्रिया के द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं।

● भगवती आराधना की भाग १ गाथा २० की विजयोदया टीका पृष्ठ ४२ में लिखा है कि – 'कर्तु क्रियाया व्यापत्वेन विवक्षितमपि कर्म' अर्थात् कर्त्ता की होनेवाली क्रिया के द्वारा जो व्याप्त होता है, वह कर्म कहलाता है।

● समयसार कलश ५१ एवं प्रवचनसार गाथा ११७ की तत्त्वदीपिका की

टीका में भी यह लिखा है कि 'यः परिणामो भवेत तत्कर्म' तथा 'क्रियाखल्वात्मना प्राप्यत्वकर्म' अर्थात् परिणमन होनेवाले कर्त्तारूप द्रव्य का जो परिणाम है, वह उसका कर्म है तथा क्रिया वास्तव में कर्त्ता के द्वारा प्राप्त होने से हैं।

यहाँ ज्ञातव्य है कि – वैसे कर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं – जैसे कि – 'घटं करोति' में घट शब्द कर्म कारक के अर्थ हैं। 'कुशलाकुशलं कर्म' में कर्म शब्द पुण्य-पाप के अर्थ में आता है; किन्तु यहाँ कर्म शब्द कर्त्ता की क्रिया, कार्य, परिणति, परिणमन अथवा परिणाम के अर्थ में लिया गया है।

कर्म के भेद – जैनदर्शन में सामान्यतया कर्त्ता का कर्म तीन प्रकार का माना गया है। उक्तं च – "तत्त्रिविधं निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति।"

(अ) प्राप्य कर्म – कर्त्ता जिसे प्राप्त करता है वह प्राप्यकर्म है अर्थात् कर्त्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी प्राप्त नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है (अर्थात् स्वयं उसकी पर्याय) वह कर्त्ता का प्राप्य कर्म है। जैसे – स्वर्ण अंगूठी को प्राप्त करता है। यहाँ अँगूठी स्वर्ण का **प्राप्य कर्म** है।

(ब) विकार्य कर्म – कर्त्ता के द्वारा पदार्थ में विकार (परिवर्तन) करके जो कुछ किया जावे वह कर्त्ता का विकार्य कर्म है। जैसे – अँगूठी स्वर्ण का विकार्य कर्म है। यहाँ स्वर्ण ही अँगूठी रूप विशेष रूप से परिवर्तित हुआ है।

(स) निर्वर्त्य कर्म – कर्त्ता के द्वारा जो पहले से न हो ऐसा कुछ नवीन उत्पन्न किया जाये वह कर्त्ता का निर्वर्त्य कर्म है। जैसे – स्वर्ण से नवीन अंगूठी बनीं। यहाँ स्वर्ण ही अंगूठी रूप निर्वर्त्य कर्म हुआ।

इस प्रकार कर्त्ता व कर्म के स्वरूप से स्पष्ट होता है कि कर्त्ता स्वतंत्र रूप से जिस कार्य को करे उसका वह कर्त्ता है और कर्त्ता को जो इष्ट हो वह उसका कर्म है।

कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध के विषय आचार्य अमृतचन्द ने समयसार गाथा ७६ में आत्मख्याति टीका में कर्त्ता-कर्म सिद्धान्त की व्याख्या व्याप्य-व्यापक संबंध के द्वारा की गई है और यह स्वीकृत किया गया है कि वस्तुतः कर्त्ता-कर्म संबंध वहीं होता है, जहाँ व्याप्य-व्यापक भाव अथवा उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्य रूप परिणमित होती है वह व्यापक है, उपादान है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य है, उपादेय है। उदाहरणार्थ :– मिट्टी की कलश रूप पर्याय व्याप्य है तथा उस पर्याय में मिट्टी व्यापक है, कुम्हार नहीं। अतः कलश (पर्याय) कर्म तथा मिट्टी (द्रव्य) उसकी कर्त्ता है, कुम्हार उसका कर्त्ता नहीं है, क्योंकि मिट्टी

की सर्व अवस्थाओं में स्वयं मिट्टी व्याप्त होती है। कुम्हार तो उस कलश रूप कार्य का निमित्त (सहचर) मात्र है।

समयसार कलश ४९ में आचार्य अमृतचंद्र ने इसका अत्यंत सरल व स्पष्ट निरूपण किया है – "व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है अतत्स्वरूप में नहीं होती है और व्याप्य-व्यापक भाव के संभव हुए बिना कर्त्ता-कर्म की स्थिति कैसी? कलश में प्रयुक्त 'ही' शब्द पर जोर देकर आचार्य अमृतचन्द्र ने इस तथ्य से अवगत कराया है कि एक द्रव्य का अपनी ही पर्याय में व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव है, दो द्रव्यों में नहीं। कलश का भावार्थ पं. जयचंद छाबड़ा ने इस प्रकार किया है – "जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई अवस्था विशेष वह व्याप्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश २११, प्रवचनसार गाथा १२२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में भी इसी मन्तव्य को विस्तार से व्यक्त किया है।

समयसार गाथा १०२ में भी यही बात कही गई है। वहाँ कहा है कि आत्मा जो शुभ-अशुभभाव करता है वह उसको कर्त्ता होता है। तथा वे शुभ या अशुभ भाव उसके कर्म होते हैं।

इसी संदर्भ में प्रवचनसार गाथा ९ भी अवलोकनीय है।

पंचास्तिकाय गाथा ५७ भी यहाँ उल्लेखनीय है। वहाँ कहा है कि – 'कर्म को वेदता हुआ जीव जैसे भाव को करता है वह उस भाव का उस प्रकार से कर्त्ता होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि परिणामी वस्तु का ही परिणाम होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक द्रव्य अन्य परद्रव्य का कर्त्ता कदापि नहीं होता।

समयसार गाथा ९८, ९९, १०३ एवं ११६ गाथा की टीका भी इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं। अन्त में समयसार कलश २०० में स्पष्ट कह दिया है कि –

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्म तत्वयोः।
कर्तृकर्मत्व सम्बन्धाभावे तत्कतृता कुतः॥

अर्थात् परद्रव्य और आत्मतत्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अतः कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है? नहीं हो सकता।

इसप्रकार विभिन्न द्रव्यों के बीच सर्वप्रकार के सम्बन्धों का निषेध ही वस्तुतः वस्तुओं की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा है।

वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त की सिद्धि में आगम के आलोक में प्रस्तुत उपर्युक्त कर्त्ता-कर्म का सिद्धान्त तो सशक्त साधन है ही। इसके अतिरिक्त निमित्तोपादान के रूप में कारण-कार्य की आगमोक्त सिद्धि तथा आगम प्रसिद्ध चार अभाव, पाँच समवाय, षट्कारक आदि अन्य आगमोक्त प्रकरण भी वस्तुस्वातंत्र्य की सिद्धि में प्रबल हेतु हैं, जिनके कतिपय आगम प्रमाण निम्न प्रकार हैं :— जिज्ञासु पाठक मूलग्रन्थों का अवलोकन कर सकें एतदर्थ यहाँ मात्र गाथाओं श्लोकों एवं कारिकाओं की नम्बए गये हैं।

●**कारण-कार्य विषयक आगम आधार** :— वस्तु के स्वतंत्र परिणमन में कारण-कार्य के रूप में निमित्तोपादान का विषय आगम सम्मत ठोस आधार है। एतदर्थ लेखक की लघु पुस्तिका 'पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं' तथा डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की पुस्तिका : निमित्तोपादान का अध्ययन अपेक्षित है। तथा मूल आगम ग्रन्थ में समयसार कलश ५१ व ५४ दृष्टव्य है।

इसी के समर्थन में कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ भी दृष्टव्य है।

● **चार अभावों के प्रकरण में आगम आधार** :— आचार्य समन्तभद्र का देवागम स्तोत्र तो मूल आधार है ही, देवागम स्तोत्र का ही अपर नाम आप्तमीमासा है। आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलंकदेव ने आठ सौ श्लोक प्रमाण अष्ट शती टीका लिखी तथा आचार्य विद्यानन्द देव ने उस टीका पर आठ हजार श्लोक प्रमाण अष्ट सहस्री वृहद् टीका लिखी है। जिसमें देवांगस्तोत्र की कारिका ९, १०, ११ तथा १५, १७, १८ के आधार पर चार अभावों का सयुक्ति विस्तृत-विवेचन किया है। उससे वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को सर्वाधिक बल प्राप्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त इन्हीं के युक्तानुशासन ग्रन्थ की कारिका ५९ एवं आचार्य अकलंकदेव के राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ८ में इसका पुरजोर समर्थन है।

●**क्रमबद्धपर्याय** के प्रतिपादन में तथा आचार्य प्रभाकर के प्रमेय कमलमार्तण्ड में स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१, ३२२ एवं ३२३ गाथायें, समयसार गाथा ३०८ से ३११ की आत्मख्याति टीका तथा आ. रविषेण के पद्मपुराण के सर्ग ११० का श्लोक ४० समर्पित है। सर्वज्ञता तो मूल आधार है ही। सर्वज्ञता के संदर्भ में आगम आधार देखें – प्रवचनसार गाथा ३९, तत्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र २९, सर्वार्थसिद्धि अ. १, सूत्र २९ की टीका।

अध्यात्म रत्नाकर पण्डितश्री रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रति मुनिराजों के आशीर्वचन

बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद

• राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज

धर्मानुरागी विद्वान पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल वर्तमान जैनसमाज के उच्चकोटि के विद्वानों में से एक हैं। वर्तमान में वे जिसप्रकार एक दीपक से हजारों दीपक जलते हैं, एक बीजान्न से अनेक बीजान्न उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अनेक विद्वानों को तैयार कर जिनवाणी की महान सेवा कर रहे हैं।

पण्डितजी एक सिद्धहस्त एवं आगमनिष्ठ लेखक भी हैं। उनका ज्ञान अत्यन्त प्रमाणिक है, जो उनकी प्रत्येक कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, चाहे वह 'जिनपूजन रहस्य' हो, चाहे 'णमोकार महामंत्र'। मुझे उनकी किसी भी कृति में एक अक्षर भी आगमविरुद्ध लिखा नहीं मिला।

उनके सार्वजनिक अभिनन्दन के इस अवसर पर मेरा बहुत-बहुत मंगल आशीर्वाद है, वे स्वस्थ एवं दीर्घायु होकर विद्वानों को तैयार करते रहें और श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करके साहित्य सेवा भी करते रहें। □

अत्यन्त सरल स्वभावी विद्वान

• आचार्यश्री धर्मभूषणजी महाराज

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल अत्यन्त सरलस्वभावी व जिनागम के ज्ञाता विद्वान हैं। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में श्रावकाचार, जिनपूजन रहस्य जैसी अनेकों जैनधर्म की सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों की रचना की है। अभी उन्होंने शलाकापुरुष एवं हरिवंशकथा जैसी प्रथमानुयोग की अनुपम पुस्तकों का भी सुन्दर लेखन किया है। पण्डित रतनचन्द भारिल्ल जैन समाज में इसीप्रकार जिनवाणी का प्रचार-प्रसार करते रहें – हमारा यही मंगल शुभ आशीर्वाद है। □

कोटिशः शुभाशीष

● आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल समाज के सुयोग्य विद्वान हैं और अच्छे तत्त्वप्रचारक हैं। समाज ने इनका अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है, जो प्रशंसनीय है। समाज इसीप्रकार सरस्वती पुत्रों का सम्मान करती रहे, जिससे विद्वानों के द्वारा जिनवाणी का प्रचार-प्रसार हो सके। अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशन समिति को कोटिशः शुभाशीष सद्धर्मवृद्धिरस्तु। □

मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है

● अध्यात्मयोगी वयोवृद्ध मुनिराज श्री निर्वाणसागरजी महाराज

मैंने पण्डितजी के व्याख्यान अनेक बार सुने, ललितपुर के विधान में, विदिशा के पंचकल्याणक में, अशोकनगर के पंचकल्याणक में मैं था, पण्डितजी वहाँ आये थे। थूबोनजी में भी पण्डितजी आये थे। उनके प्रवचन बहुत सरल और व्यावहारिक होते हैं। मैंने उनके द्वारा अनुवाद किए समयसार के प्रवचन भी पढ़े, कहीं भी कोई आगमविरुद्ध बात नहीं है। उनका साहित्य निर्विवाद और अत्यन्त सरल होते हुए भी आध्यात्मिक है। जिनपूजन रहस्य, णमोकार महामंत्र, विदाई की बेला, सामान्य श्रावकाचार, संस्कार – ये सभी पुस्तकें नवयुवकों के लिए बहुत उपयोगी हैं। प्रथमानुयोग में भी उन्होंने हरिवंश कथा, शलाकापुरुष जैसे ग्रन्थ लिखकर बहुत अच्छा काम किया है। मेरा उनको पुनः पुनः आशीर्वाद है।

धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद

● मुनिश्री विशदसागरजी महाराज

पण्डितप्रवर श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने अपना जीवन सम्यग्ज्ञान की साधना और आराधना में समर्पित किया। भारिल्लजी अध्यात्म योग के साथ समाज को सही दिशा देने के लिए प्रयत्नशील रहकर लेखन कार्य करते हैं। अनेक पुस्तकों को प्रकाशित कर जन-जन के हाथों में पहुँचाने के लिए तथा श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को जैन सिद्धान्त का ज्ञान कराने के लिए सदैव तत्पर रहनेवाले धर्मानुरागी विद्वान को मेरा आशीर्वाद। □

जिनवाणी के आराध्य

● अनगार उर्जयन्तसागरजी महाराज

धर्मानुरागी पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल हम सभी के बीच ऐसे व्यक्तित्व का नाम है, जिसका जीवन जिनवाणी का आराधन करते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा

नव साहित्य सृजन एवं सुयोग्य विद्वानों के निर्माण में व्यतीत हो रहा है। हमारे जयपुर प्रवास में आयोजित विभिन्न धार्मिक समारोह गोष्ठियों आदि में आपने अपने तत्त्वज्ञान से समाज को काफी लाभान्वित किया है।

आपके द्वारा रचित प्रथमानुयोग के शलाका पुरुष भाग एक व दो तथा हरिवंश कथा आपकी लेखनी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। सहज, सरल व गम्भीर व्यक्तित्व के धनी पण्डितजी का साहित्य और जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में जो योगदान है, वह अनुपमेय है। पण्डितजी साहब दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की इसीप्रकार निरन्तर सेवा करते रहें। यह मेरा मंगल आशीर्वाद है। □

स्मरणीय सेवा

● पण्डिताचार्य भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी, जैनमठ, मूड़बिद्री

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल इतनी सादगी से रहते हैं कि प्रथमदृष्टया मिलने पर कोई उनके विशाल व्यक्तित्व का अंदाज भी नहीं लगा पाता और जब उसे उनका परिचय मिलता है तो उनकी सरलता को देखकर मिलनेवाले आश्चर्य चकित हो जाते हैं। पण्डितजी ने सरल लोकभाषा में धर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करके अत्यन्त उपकार किया है। उनकी किताबों के कन्नड़ अनुवाद से कन्नड़ की जनता भी उनका उपकार मानती है।

आपने धार्मिक उत्थान के साथ सामाजिक समस्याओं के लिए भी अपनी पुस्तकों में अनेक व्यावहारिक समाधान सुझाकर समाजोत्थान के लिए भी आश्चर्यपूर्ण काम किया है। आपकी सेवाओं को सदैव याद किया जायेगा। □

रतनचन्द से त्रैलोक्यनाथ बनें

● स्वस्ति श्री भट्टारक चिन्तामणि धवलकीर्ति स्वामीजी, अर्हत्सुगिरि

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल तो चन्द से भी शीतल सरल एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनकी जैन साहित्य की मौलिक कृतियाँ हर एक मानव की मानवता का उत्थान करनेवाली हैं। उनके लेखन एवं बोलने की शैली भी अर्थ गम्भीरता को सूचित करती है। उन्होंने दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त भारतभूमि की जनता का उत्थान किया है और अभी भी कर रहे हैं। वे साहित्य के माध्यम से विदेशों में भी पहुँच गये हैं। कुछ लोग जयपुर में बैठकर पत्थर में भगवान का रूप दे रहे हैं तो हमारे रतनचन्दजी जयपुर में बैठकर इन्सान को साक्षात् भगवान बनाने की कला सिखा रहे हैं। वास्तव में उनका जीवन धन्य है। □

लेखक के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

मौलिक कृतियाँ	अब तक प्रकाशित प्रतियाँ	कीमत
०१. संस्कार (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	५६ हजार ५००	१८.००
०२.विदाई की बेला (हिन्दी, मराठी, गुजराती)	८५ हजार	१२.००
०३. इन भावों का फल क्या होगा (हि. म., गु.)	४९ हजार	१८.००
०४. सुखी जीवन (हिन्दी) (नवीनतम कृति)	२३ हजार	१६.००
०५. णमोकार महामंत्र (हि., म., गु., क.)	६७ हजार ५००	६.००
०६. जिनपूजन रहस्य (हि.,म., गु., क.)	१ लाख ७९ हजार २००	४.००
०७. सामान्य श्रावकाचार (हि., म., गु.,क.)	७१ हजार २००	६.००
०८. पर से कुछ भी संबंध नहीं (हिन्दी)	८ हजार	७.००
०९. बालबोध पाठमाला भाग-१(हि.म.गु क.त अ)	३ लाख ५२ हजार	२.००
१० क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन (नवीनतम)	८ हजार	३ ००
११. समयसार : मनीषियों की दृष्टि में (हिन्दी)	३ हजार	४.००
१२. द्रव्यदृष्टि (नवीन संस्करण)	५ हजार	४ ००
१३. हरिवंश कथा (दो संस्करण)	१० हजार	३०.००
१४. षट्कारक अनुशीलन	३ हजार	४.००
१५ शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध (दो संस्करण)	७ हजार	२५.००
१६. शलाका पुरुष उत्तरार्द्ध (प्रथम संस्करण)	५ हजार	३०.००
१७. ऐसे क्या पाप किए (दो सस्करण)	८ हजार	१५.००
१८. नींव का पत्थर	५ हजार	१०.००

सम्पादित एवं अनूदित कृतियाँ (गुजराती से हिन्दी) -

१९ से २९. प्रवचनरत्नाकर भाग - १ से ११ तक (सम्पूर्ण सेट)	१६०.००
३०. सम्यग्दर्शन प्रवचन	१५.००
३१. भक्तामर प्रवचन	१२.००
३२. समाधिशतक प्रवचन	२०.००
३३. पदार्थ विज्ञान (प्रवचनसार गाथा ९९ से १०२)	३.००
३४ गागर में सागर (प्रवचन)	७.००
३५ अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
३६. गुणस्थान-विवेचन	१८.००
३७. अहिंसा के पथ पर (कहानी संग्रह)	१०.००
३८ विचित्र महोत्सव (कहानी संग्रह)	११.००

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1,000 रुपये देनेवाले – ● श्री शशिकान्तभाई घाटकोपर, मुम्बई

500 रुपये देनेवाले – ● श्रीमती श्रीकान्तबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर ● श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज ● श्री अजयकुमारजी जैन, हजारीबाग ● श्री ललितजी जैन, हजारीबाग ● श्रीमती कमला ध.प. श्री जयन्तिलालजी गंगावत, नरोड़ा ● श्री भगवान जयन्तिलालजी गंगावत, नरोड़ा ● श्रीमती शान्ताबाई सुन्दरलालजी जैन, इन्दौर ● श्री सोभागमल मनोजकुमारजी जैन, कलवाड़ा ● श्रीमती आशा जैन ध.प. हेमन्तकुमारजी जैन, कलवाड़ा ● श्री महावीरप्रसादजी जैन, कलवाड़ा।

400 रुपये देनेवाले – ● श्री परमेश्वरदासजी जैन, दिल्ली।

301 रुपये देनेवाले – ● श्री मीठालाल हिम्मतलालजी शाह, हिम्मतनगर ● श्री प्रकाश चन्दजी जैन, लागोन बानपुर ● श्री प्रकाशचन्दजी झाँझरी, उज्जैन ● श्री सुरेन्द्र कुमारजी जैन दिल्ली।

251 रुपये देनेवाले – ● श्रीमती स्नेह जैन, सेक्टर-9-ए वासी, नई मुम्बई ● श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल ● श्री मयूरभाई एम सिंघवी, मुम्बई ● श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी ● श्री सुरेशचंद सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर ● श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत ● श्रीमती पतासीदेवी ध.प. श्री इन्द्रचंदजी पाटनी, लाँडनू ● स्व. ऋषभकुमार जैन सुपुत्र श्री सुरेशकुमारजी जैन, पिडावा ● स्व. श्रीमती सीमा काला की पुण्य स्मृति में ध.प. श्री राजेशकुमारजी काला परिवार, इन्दौर ● श्री बाबूलालजी जैन, कुचडौद ● श्रीमती मैनादेवी ध.प प. सिद्धार्थकुमारजी दोशी, रतलाम ● श्रीमती भावना ध.प. सुनीलकुमारजी चौधरी, भीलवाड़ा अपने पुत्र एवं पुत्री के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में ●श्री महेन्द्र बाबूजी, छिन्दवाड़ा ● श्री सुरेन्द्र पंकजजी जैन, छिन्दवाड़ा ● श्री खेमचन्दजी जैन, टीकमगढ़ ● श्रीमती कमलाजी पाटनी, छिन्दवाड़ा ● श्रीमती शुद्धात्मा प्रभा, कोतमा ●श्री अर्पितकुमार सुधीरकुमार जैन, रायपुर ● श्री श्रेणिक कैलाशचन्दजी चौधरी, मुम्बई ● श्रीमती प्रमिला वैद्य, मुम्बई ● श्री मुकेश जैन, सूरत ● श्री मोहनलालजी संघवी, पूना ● श्री खेमचन्द भाई मगनलालजी सेठी, अहमदाबाद ● श्री लक्ष्मणदासजी जैन, दिल्ली ● श्री ओमप्रकाशजी जैन, दिल्ली ●श्री कैलाशचन्दजी जैन, ललितपुर ● श्री शिखरचन्दजी जैन अनौरा, ललितपुर ●श्री वृन्दावनलालजी करतारचंदजी जैन, ललितपुर ●श्रीमती कपूरीबाई वृन्दावनलालजी जैन, ललितपुर ● श्री अशोकजी टडैया, ललितपुर ● श्री चम्पालालजी जैन, ललितपुर ● श्री श्रवणकुमारजी शाह, उज्जैन ● पं. भागचन्द चन्द्रकान्तजी कासलीवाल उज्जैन ● श्रीमती सुशीलाबाई विमलचन्दजी जैन, उज्जैन ●श्री राजेश जैन एव किरण जैन, उज्जैन ●श्रीमती शैला जैन ध प. श्री अनिलकुमारजी जैन, उज्जैन ●श्री चाँदमलजी जैन, उज्जैन ● श्री मनोहरलालजी चौपड़ा, महिदपुर ● श्री सुरेशचन्दजी शहा, मुम्बई ● श्री अनिलजी कोठारी, मुम्बई ●श्रीमती शीला भारिल्ल के सी. भारिल्ल, गोरझामर।

कुल राशि **18,129.00**